चितिशक्ति का विलास

(प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के आधार पर)

Chiti Shakti Ka Vilas

(On the basis of Pratyabhijñāhridayam)

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग जम्मू विश्वविद्यालय [illegible]

एम॰फिल॰ उपाधि हेतु प्रस्तुत [illegible]

निर्देशक :

डॉ॰ [illegible] सिंह

[illegible]

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग

जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

[illegible]

2005

2-3

IInd copy

forwarded

18/05/05



चितिशक्ति का विलास

(प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के आधार पर)

Chiti Shakti Ka Vilas

(On the basis of Pratyabhijñāhridayam)

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग जम्मू विश्वविद्यालय की
एम॰फिल्॰ उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोधप्रबन्ध

निर्देशक :
डॉ॰ जागीर सिंह
एम॰ए॰, एम॰फिल्॰, पी॰एच॰डी॰
रीडर,
स्नातकोत्तर संस्कृत-विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

शोध छात्रा
ज्योति खजूरिया

2005

CERTIFICATE

It is to certify that **Miss Jyoti Khajuria** has worked under my supervision and guidance on the topic entitled **"Chiti Shakti Ka Vilas"** (On the basis of Pratyabhijñāhridayam) for the degree of M.Phil. (Sanskrit) university of Jammu.

This is further certified that :—

1. This dissertation is the original research work of the candidate herself.

2. The candidate has worked exactly in accordance for the time period, prescribed by the statute of Jammu University.

3. The topic has been duly approved by the M.Phil. (Sanskrit) committee of the P.G. Deptt. of Sanskrit, Jammu University, Jammu.

4. The candidate has put her attendance and attended the seminars etc. in the Sanskrit Department under rule.

5. The work and conduct of the candidate remained satisfactory during her research work

May, 2005

Jagir Singh

Supervisor
Dr. Jagir Singh (Reader)
M.A, M.Phil, Ph.D.
P.G. Deptt. of Sanskrit
Jammu University,
Jammu.

विषयानुक्रमणिका

संकेत-सूची

संकेत		ग्रन्थ का नाम
अनु०प्र०पं०	–	अनुत्तरप्रकाशपञ्चशिका
अभि०भा०	–	अभिनव भारती
ई०प्र०वि०	–	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
ई०प्र०का०	–	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका
ई०प्र०वि०वि०	–	ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्तिविमर्शिनी
कठ०उप०	–	कठोपनिषद्
का०शै०द०	–	काश्मीर शैवदर्शन
का०शै०द०का०	–	काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी
क्र०स्तो	–	क्रमस्तोत्र
तं०सा०	–	तन्त्रसार
तं०आह०	–	तन्त्रालोक आह्निक
तं०आ०टी०	–	तन्त्रालोक टीका
तं०आ०वि०	–	तन्त्रालोक एवं विवेक
त्रि०सा०	–	त्रिकसार
दु०स०	–	दुर्गासप्तशती
ने०तं०	–	नेत्रतन्त्र
प०सा०वि०	–	परमार्थसारविवृति
परा०प्रा०	–	पराप्रवेशिका
परा०त्रिं०वि०	–	परात्रिंशिकाविवरण
प्र०हृ०	–	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
प्र०द०	–	प्रत्यभिज्ञादर्शनम्
प्र०हृ०मा०	–	प्रत्यभिज्ञाहृदयम् और माया
पू०प्र०	–	पूर्णता प्रत्यभिज्ञा
बो०पं०	–	बोधपञ्चदशिका

संकेत–सूची

संकेत		ग्रन्थ का नाम
अनु०प्र०पं०	–	अनुत्तरप्रकाशपञ्चशिका
अभि०भा०	–	अभिनव भारती
ई०प्र०वि०	–	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
ई०प्र०का०	–	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका
ई०प्र०वि०वि०	–	ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्तिविमर्शिनी
कठ०उप०	–	कठोपनिषद्
का०शै०द०	–	काश्मीर शैवदर्शन
का०शै०द०का०	–	काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी
क्र०स्तो	–	क्रमस्तोत्र
तं०सा०	–	तन्त्रसार
तं०आह०	–	तन्त्रालोक आह्निक
तं०आ०टी०	–	तन्त्रालोक टीका
तं०आ०वि०	–	तन्त्रालोक एवं विवेक
त्रि०सा०	–	त्रिकसार
दु०स०	–	दुर्गासप्तशती
ने०तं०	–	नेत्रतन्त्र
प०सा०वि०	–	परमार्थसारविवृति
परा०प्रा०	–	पराप्रवेशिका
परा०त्रिं०वि०	–	परात्रिंशिकाविवरण
प्र०हृ०	–	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
प्र०द०	–	प्रत्यभिज्ञादर्शनम्
प्र०हृ०मा०	–	प्रत्यभिज्ञाहृदयम् और माया
पू०प्र०	–	पूर्णता प्रत्यभिज्ञा
बो०पं०	–	बोधपञ्चदशिका

संकेत		ग्रन्थ का नाम
ब्र०सू०शां०भा०	–	ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य
भ०गी०	–	भगवद्गीता
भा०द०	–	भारतीय दर्शन
भा०	–	भाग
भा०द०इति०	–	भारतीय दर्शन का इतिहास
मा०वि०तं०	–	मालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्
मु०उप०	–	मुण्डक उपनिषद्
महा०मं०	–	महार्थमञ्जरी
वे०सा०	–	वेदान्तसार
वि०भै०	–	विज्ञान भैरव
शा०ति०	–	शारदा तिलक
शि०सू०	–	शिवसूत्र
शि०दृ०	–	शिवदृष्टि
शि०स्तो०	–	शिवस्तोत्रावली
शि०सू०वि०	–	शिवसूत्रविमर्शिनी
श्लो०	–	श्लोक
शै०द०बिं०	–	शैवदर्शनबिन्दु
स्प०नि०	–	स्पन्दनिर्णय
स्प०का०	–	स्पन्दकारिका
स्प०सं०	–	स्पन्दसंन्दोह
स्व०तं०	–	स्वछन्दतन्त्रम्
स्त०चि०	–	स्तवचिन्तामणि
सू०	–	सूत्र
सां०द०	–	सांख्य दर्शन
सं०सा०इः	–	संस्कृत साहित्य का इतिहास
षट् त्रिं०त०स०	–	षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह

प्राक्कथन

विभिन्न भाषाओं के अध्ययन के प्रति मेरी रुचि सतत रही तथा भाषाओं को सीखने हेतु निरन्तर प्रयास रहा है। एम० ए० प्रवेश करने पर मुझे प्रथम सत्र में साहित्य, भाषाविज्ञान तथा दर्शन आदि क्षेत्रों से सम्बन्ध ज्ञान अर्जन एवं अध्ययन करने का सुअवसर उपलब्ध हुआ, किन्तु दर्शन के अध्ययन से, मुझे इसके (दर्शन) प्रति विशेष लगाव हुआ। वास्तव में दर्शन के अध्ययन की आध्यात्मिक शक्ति एवं जिज्ञासा ने मुझे अपने प्रति आकृष्ट किया।

प्रथम श्रेणी में संस्कृत स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् अनुसन्धान कार्य करने की अभिलाषा से मैंने एम. फिल में प्रवेश किया तथा दर्शन से सम्बन्धित विशेषकर काश्मीर शैव दर्शन के क्षेत्र से विषय का चुनाव करना चाहा। मेरी इस रुचि को देखते हुए हमारे विभाग के दर्शन के प्राध्यापक डा० जागीर सिंह जी ने मुझे प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के आधार पर 'चितिशक्ति का विलास' नामक विषय पर शोध करने का सुझाव दिया। इस लघु शोध प्रबन्ध को मैंने पाँच अध्यायों में विभाजित कर यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार भगवती चितिशक्ति चित्, आनन्द आदि शक्तियों से युक्त होकर इस विश्व का निर्माण करती है तथा माया आदि से युक्त होकर जीव दशा को प्राप्त होती है किन्तु जीवदशा (पशुदशा) में भी शिव के समान पञ्चकृत्य (सृष्टि, स्थिति आदि) करती रहती है। यह चितिशक्ति ही छत्तीस तत्त्वों तथा सप्त प्रमाताओं के रूप में वर्गीकृत होकर नाना प्रकार की हो जाती है। जीव, जोकि शिवरूप ही है किस प्रकार बन्धन में पड़ता है तथा किस प्रकार उपायों द्वारा मोक्ष को प्राप्त होता है। इन सब बातों का ही संक्षिप्त वर्णन इस शोध प्रबन्ध में किया गया है।

सर्वप्रथम उस जगत्पिता परमात्मा को मेरा कोटि-कोटि प्रणाम जिनकी असीम कृपादृष्टि रहने से मेरा यह लघु शोध-प्रबन्ध सम्पूर्णता को प्राप्त हुआ।

इस लघु शोधकार्य को पूर्ण करने का प्रमुख श्रेय महानुभाव डॉ० जागीर सिंह जी को जाता है जो समय-समय पर इस शोध कार्य को पूर्ण करने में मेरे सहायक हुए तथा ज्ञानपूर्ण निर्देशन तथा मृदुल व्यवहार से शोधकार्य में आने

वाली कठिनाईयों को दूर किया तथा मुझे प्रेरणा देकर इस शोध-कार्य को चरम सीमा तक पहुँचाने में मेरी सहायता की।

मैं अपने विभाग की अध्यक्षा डॉ० रमणीका जलाली जी को हृदय से धन्यवाद करती हूँ जिन्होंने मुझे हर उचित समय पर यथा सम्भव सहयोग दिया। इसके अतिरिक्त मैं अपने सभी गुरूजनों जो कि मेरे लिए सदैव ही श्रद्धा के पात्र और पूजनीय हैं, जैसे- डॉ० शारदागुप्ता जी, डॉ० केदार नाथ जी, डॉ० पुरूषोत्तम जी, डॉ० सुषमागुप्ता जी, डॉ० राम बहादुर शुक्ला जी, इन सबके लिए भी धन्यवाद ज्ञापन करती हूँ।

अपने वरिष्ठ और कनिष्ठ शोध छात्राओं तथा पुस्तकालयाध्यक्षा श्रीमती विजया जी तथा उनके सहयोगी जतिन शर्मा का भी धन्यवाद करना चाहती हूँ जिन्होंने मुझे सामग्री-संकलन में सहायता की। इसके साथ ही मैं रघुनाथ पुस्तकालय के अध्यक्ष डॉ० धनीराम शास्त्री जी का भी धन्यवाद करती हूँ।

मैं अपने माता-पिता के साथ-साथ अपने भईया और दीदी के प्रति आभार प्रकट करती हूँ जिनके आशीर्वाद तथा प्रेम से ही मेरा एम० फिल्० का शोधकार्य सम्पूर्णता को प्राप्त हुआ।

अन्तः मैं पुनः भगवान् शिव एवं उनकी अद्भुत शक्ति को कोटि-कोटि प्रणाम करती हूँ और उनकी बहुत आभारी हूँ जिनकी कृपा से मैं आज शोध कार्य को पूर्ण कर रही हूँ।

शोधछात्रा

मई 2005

Jyoti Khajuria

(ज्योति खजूरिया)

प्रथम अध्याय

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् एवं इसका कृतित्व

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् एवं इसका कृतित्व

किसी भी कृतिकार के कृतित्व पर उसकी पारिवारिक परिस्थितियों का अनिवार्य प्रभाव पड़ता है, किन्तु जहाँ तक 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' के कृतिकार का प्रश्न है, यह कृति राजानक क्षेमराज की है। राजानक क्षेमराज को कश्मीर अद्वैत शैवदर्शन में अद्वितीय स्थान प्राप्त है। कृतिकार दूसरे के विषय में बहुत कुछ कहकर भी अपने विषय में या तो कुछ भी नहीं कहता अथवा कहता भी है तो इतना कम कि जो उसकी काल एवं देश विषयक समस्या को और भी विवादास्पद बना देता है। क्षेमराज भी इस परम्परा का संवरण न कर सके। यद्यपि उनके पूज्य गुरू 'महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। क्षेमराज महान् आचार्य अभिनवगुप्त के शिष्य थे।[1] आचार्य अभिनवगुप्त इस कठिनाई का अनुभव कर चुके थे और यही कारण है कि उन्होंने यथास्थान अपने विषय में तो निर्देश किया है साथ ही अपने शिष्यों के विषय में भी संकेत करके इस समस्या को कुछ सरल बना दिया है। क्षेमराज के विषय में जो कुछ अभी तक जानकारी मिल सकी है, वह भी अभिनवगुप्त के इन स्फुट निर्देशों से सम्भव हो सकी है। राजानक क्षेमराज के गुरू अभिनवगुप्त तथा अभिनवगुप्त के गुरु लक्ष्मणगुप्त, इस प्रकार प्राचीन गुरुओं की क्रमबद्धता निम्नलिखित है[2]–

	वसुगुप्त	
सोमानन्द	825	भट्टकल्लट
उत्पलदेव	850	मुकुलभट्ट
लक्ष्मणगुप्त	875	भट्टेन्दु
अभिनवगुप्त	900	अभिनवगुप्त
क्षेमराज	925	क्षेमराज

1. "कृतिस्तत्रभवन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदाभिनवगुप्तपादपद्मोपजीविनः श्रीमतो राजानक क्षेमराजाचार्यस्य।।" (प्र० हृ०, अन्ते।)
2. "श्रीकण्ठं वसुमन्तं (वसुगुप्तं) सोमानन्दं तथोत्पलार्चम्। लक्ष्मणमभिगुप्तं वन्दे श्रीक्षेमराजं च।।" (शा० नि० टी०, श्लोक–3 पृ०–7)

ऐसे महान् योगी (क्षेमराज) का स्थिति काल उल्लासित न होने पर भी इनके गुरु अभिनवगुप्त के समयानुसार 925-1025 ई० पू० के समीप अनुमानित किया जा सकता है।

क्षेमराज अपना नाम 'क्षेम' अथवा राजानक क्षेमराज के रूप में सम्बोधित करते हैं। अभी तक क्षेमराज की किसी भी कृति में कुछ भी ऐसा नहीं मिला है, जो क्षेमराज अथवा उनके माता-पिता के विषय पर कुछ प्रकाश डाल सके। अभिनवगुप्त ने अपने 'तन्त्रालोक' के सैंतीसवें आह्निक में अपने शिष्यों की सूची में 'क्षेम' नाम दिया है।

अभिनवगुप्त ने वंश-परम्परा में अपने चचेरे भाईयों (पितृव्यपुत्र) तथा अपने परम विद्वान् तथा भक्त चाचा 'वामनगुप्त' का उल्लेख किया है, जो उनके गुरुओं में से एक थे।[1] इन वामन गुप्त के पुत्रों एवं अभिनवगुप्त के चचेरे भाईयों में क्षेम, उत्पल, अभिनव, चक्रक और पद्मगुप्त आदि नाम आते हैं। साथ ही इन लोगों को इन्होंने अपना शिष्य भी बताया है।[2]

इनके योग्य शिष्यों में योगराज और केरल निवासी वरदराज का नाम प्रमुख रूप में आता है। योगराज के अनुसार क्षेमराज ने महेश्वर की साक्षात् अनुभूति प्राप्त की थी।[3] कश्मीर निवासी योगराज एक विरक्त तपस्वी था तथा झेहलम के किनारे कुटिया में निवास करता था और शिव भक्ति में निमग्न रहता था।[4] क्षेमराज की तरह उनके शिष्य भी शिव के परम भक्त थे तथा धन-सम्पत्ति को तिनके के समान समझते थे। उनके अपना जीवन परिचय न देने का एक कारण यह भी है कि वह अपनी कृतियो में जगत् कल्याण के विषय को देना

---

1. तत्र हास्याभासो यथास्मत्पितृव्यस्य वामनगुप्तस्य लोकोत्तरारणि चरितानि न लोकेषु सम्मन्यत यदि किमत्र वदाम नाम। यत्वत्रहासमुखरस्तत्वममुष्यतेनं, पाश्र्वोपपीऽमिह को न विजाहसीति।।" (अभि० भा०, भा०-1/297)
2. "अन्ये पितृव्यतनयाः शिवभक्ति शुभ्राः क्षेमोत्पलभिनवचक्रकपद्मगुप्ताः। ये सम्पदं तृणभगसत शम्भुसेवासंपूरितंस्वहृदय हृदि भावयन्तः।।" (तं० आ०, आह०-37, भा०-32, शलोक-67)
3. "श्रीमतः क्षेमराजस्य सदगुर्वाम्नायशालिनः। साक्षात्कृतमहेशस्य तस्यान्तेवासिना मया।।" (प० सा० वि०, अन्ते, पृ०-199)
4. "श्रीवितस्तापुरीधाम्ना विरक्तेन तपस्विना। विवृतिर्योगनाम्नेयं पूर्णाद्वयमयी कृता।।" (प० सा० वि०, पृ० 199)

चाहते थे न कि अपना प्रशंसा करना चाहते थे। क्षेमराज के शिष्य भी उनके समान योग्य और विद्वान् थे। क्षेमराज ने अपने एक शिष्य 'शूर' का भी नाम दिया है, उसी के अनुरोध पर उन्होंने 'स्पन्दनिर्णय' की रचना की थी।[1]

क्षेमराज के देश और काल के विषय में हमें इतनी कठिनाईयों का सामना करना पड़ता जितना अन्य कृतिकारों के विषय में। इसका कारण यह है कि उन्होंने चाहे सांकेतिक रूप में ही हो, यहाँ तहाँ अपना निर्देश कर दिया है। नारायणभट्ट की स्तवचिन्तामणि पर विवृति करते समय उसके उपसंहार में इन्होंने जिन पद्यों की रचना की है, उनसे यह निर्विवादरूपेण निर्णय हो जाता है कि क्षेम श्रीनगर से 30 कि० मी० पूर्व स्थित 'विजयेश्वर' अर्थात् बीजबिहार में रहते थे। अपनी विद्वत्ता, योग्यता और शिवशक्ति परायणता सिद्धि के प्रभाव से ही वह अभिनवगुप्त के उत्तराधिकारी और त्र्यम्बक मठिका के गुरु पद से सुशोभित हुए थे।

अपनी प्रसिद्ध कृति 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' के प्रारम्भ में उन्होंने जो शिव की स्तुति की है, तथा उनको सदैव पञ्चकृत्य (सृष्टि, स्थिति, संहृति, विलय तथा अनुग्रह) का विधान करने वाले तथा चित् एवं आनन्द से सम्पृक्त परमार्थ का आभास करने वाले बतलाया है, उससे यह सिद्ध होता है कि वे मंगलमूर्ति शिव के परम भक्त थे।[2] क्षेमराज शैव होते हुए भी समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रत्यभिज्ञाहृदय में स्पष्ट झलकता है। जैसा कि आत्मा विषयक अन्य दर्शनों के विचारों का समन्वय करते हुए उन्होंने कहा है कि 'चार्वाक' चैतन्य से संयुक्त 'शरीर' को ही आत्मा मानते हैं। इसी तरह 'न्याय-वैशेषिक' ज्ञानादि गुण समूहों के प्रतिपादक प्रायः "बुद्धि" को ही जीवित दशा में और मृत्यु की दशा में उसके अभाव से "शून्य" को ही आत्मा मानते हैं। जो अहं (मैं) की प्रतीति से जाना जाता है और सुखदुखादि

---

1. "शूरनाम्नः स्वशिष्यस्य प्रार्थनातिरसेन तत्।
निर्णीतं क्षेमराजेन स्फारान्निजगुरोर्गुरोः" (स्प० नि० श्लोक० 4, पृ० 77)

2. (क) "नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्याभिधायिने।
चिदान्नदधनस्वात्मपरमार्थवभासिने।।" (प्र० हृ०, श्लो०-1)
(ख) "..... नमो मङ्गलमूर्तये" (प्र० हृ०-मंगल श्लोक)

उपाधियों से ढका हुआ है वह आत्मा है, ऐसा 'मीमांसक' मानते हैं अर्थात् बुद्धि को ही आत्मा समझते हैं। 'वेदान्ती' प्राण को ही आत्मा मानते हैं। "पाँचरात्र जीव को वासुदेव का परिणाम मानते हैं। शंकराचार्य ने भी भाष्य में कहा है– "तेषां वासुदेवः पराप्रकृतिरितरे संकर्षणादयः कार्यम्" अर्थात् पाँचरात्रों के मत में सर्वोत्कृष्ट कारण वासुदेव है। संकर्षण इत्यादि अन्य जीव कार्य हैं। सांख्य के अनुयायी भी विज्ञानाकल भूमि का आश्रय लेते हैं। शब्द ब्रह्ममय पश्यन्ती रूप को आत्मा मानने वाले वैयाकरण इच्छाप्रधान सदाशिव दशा में ही अवस्थित हैं, क्योंकि पश्यन्ती इच्छा की भाँति अव्यक्त शब्द का उन्मेषमात्र होती है। इस प्रकार अन्य दर्शन भी त्रिक दर्शन के एक ही अंश में स्थित अनुमानित हो सकते हैं। तान्त्रिक विश्वोत्तीर्ण और कुलादि आत्माओं में विश्वमय को आत्मतत्त्व मानते हैं परन्तु त्रिकादि दर्शनविद् आत्मतत्त्व को विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय दोनों रूपों वाला मानते हैं। इस प्रकार इनके मत में अद्वैत शैव दर्शन ही पूर्ण है। किन्तु क्षेमराज ने आत्मा को 'पञ्चकृत्य' वाला कहा है- ये पञ्चकृत्य (सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय एवं अनुग्रह) हैं।[1]

क्षेमराज न केवल एक उच्चकोटि के अद्वैतशैवी साधक थे, प्रत्युक्त एक अच्छे लेखक भी थे। अपने गुरू की भाँति इनको भी सभी मतों, धर्मों एवं आचार्यो की शिक्षाओं का पूर्णज्ञान था इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि क्षेमराज आध्यात्मिकता की अन्युत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हो चुके थे। उन्होंने जो कुछ लिखा उसमें आत्मानुभूति, सतर्क, शास्त्र ज्ञान एवं गुरू कृपा का सम्मिश्रण था। उन्होंने संसार रूपी विष की शांति के लिए प्रत्यभिज्ञाहृदयम् रूपी महासिंधु का सारांश उद्धृत किया है।[2] इसलिए उनकी कृतियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। यह एक महान् शास्त्रकार एवं भाष्यकार भी थे। परन्तु दोनों रूपों में उनका लक्ष्य अद्वैतशैव के गूढ़ रहस्यों का सरलीकरण है। भले ही वे लक्ष्य शास्त्र प्रतिपादक हों अथवा गुरूज्ञान की परम्परा से प्राप्त हों। सर्वजन कल्याण, संसार के द्वैतभाव

---

1. "तद्भूमिका सर्वदर्शनस्थितयः"। (प्र० हृ०, सू०-8)
2. "शांकरोपनिषत्सारप्रत्यभिज्ञामहोदधेः।
क्षेमेणोद्धियते सारः संसारविषशान्तये।। (प्र० हृ०, प्रारम्भे)

की शान्ति और मान्यवर गुरूओं के यथार्थज्ञान को सुगम बनाकर बोधगम्य बनाना- फलतः इस सिद्ध मत का प्रचार- प्रसार करना इनकी मुख्य विशेषतायें रही हैं।

इन्होंने तन्त्रों की भी अद्वैत परक व्याख्या की है। साहित्य में इनकी रूचि दिखाई नहीं देती, इसका मुख्य कारण शिवरस में ही रसित रहना प्रतीत होता है। यह न केवल प्रत्यभिज्ञा, अपितु क्रम, कौल, स्पन्द आदि अन्य अद्वैतशैवी मतों के भी प्रतिपादक रहे हैं। इनका महान् व्यक्तित्व न केवल शैवी साधनाओं का ही सम्यक् विज्ञाता था, अपितु सर्वशास्त्र विशारद भी था। यह यद्यपि शिव की उत्कृष्टता स्वीकार करते हैं, तथापि शक्ति को शिव से अभिन्न मानते हुए पराशक्ति की स्वातन्त्रय महिमा को भी स्वीकार करते हैं। ऐसा इनकी कृतियों में देखने को मिलता है।[1] यह एक बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न सिद्ध महापुरूष थे, इसी प्रकार उनकी रचनाएँ भी महान् एवं अद्वितीय स्थान रखती हैं, जिनकी संख्या भी पर्याप्त है। परन्तु केवल बाईस के लगभग ही उद्धरणों, सन्दर्भों अथवा प्रत्यक्ष में उपलब्ध होती हैं।

क्षेमराज का कृत्तित्व

जगत् के कल्याण के लिए शिव ने जो उपदेश दिया उसके सारतत्व को 'शिवसूत्र' कहते हैं। इसकी मदद से सोमानन्द ने 'शिवसृष्टि' लिखी। सोमानन्द के ही शिष्य 'उत्पलदेव' ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' लिखी। अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमराज ने 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' लिखी। क्षेमराज ने निम्नलिखित ग्रन्थ लिखे-

1. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
2. स्पन्दसन्दोह
3. स्पन्दनिर्णय
4. स्वच्छन्दोघोत

1. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः। (प्र० हृ०, सू०-1)

5. नेत्रोद्योत
6. विज्ञानभैरवोद्योत
7. शिवसूत्रविमर्शिनी
8. स्तवचिन्तामणिटीका
9. पराप्रावेशिका
10. तत्त्वसन्दोह!

1. 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्'

क्षेमराज की कृतियों का वर्गीकरण करते हुए प्रत्यभिज्ञापरक रचनाओं में 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' का विशेष महत्त्व है। क्षेमराज का यह ग्रन्थ सर्वमान्य है तथा स्वयं क्षेमराज ने इस पर वृत्ति भी लिखी है। बीस कारिकाओं की यह कृति प्रत्यभिज्ञादर्शन के सारभूत ग्रन्थ के रूप में ग्राह्य है। आगम शास्त्र के सारभूत प्रत्यभिज्ञारूपी महासमुद्र का सार रूप यह ग्रन्थ भवरूपी विष को शान्त करने वाला है।[1] 'प्रत्यभिज्ञा' शब्द का अर्थ है– 'पहचान'। 'पहचान' अर्थात् अपने स्वरूप की पहचान। संसार में आकर मनुष्य अपने सच्चे स्वरूप को भूल जाता है और अपने स्थूल एवं सूक्ष्म देह को ही अपना स्वरूप समझ बैठता है। यह शास्त्र अपने सच्चे स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा (पहचान) करवाता है।

अभिनवगुप्त ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' में 'प्रत्यभिज्ञा' की विशद व्याख्या की है।

प्रत्यभिज्ञा शब्द प्रति+अभि+ज्ञा से बना हुआ है। प्रति का अर्थ है– 'प्रतीप' (प्रतिकूल) अभि का अर्थ है– 'अभिमुख रूप से' अर्थात् आमने सामने, स्फूटरूप से, ज्ञा का अर्थ है– ज्ञान या प्रकाश। ज्ञात होने पर भी विस्मृत तत्व का अभिमुख रूप से पुनः ज्ञान या प्रकाश 'प्रत्यभिज्ञा' कहलाता है।[2]

---

1. "शांकरोपनिषत्सारप्रत्यभिज्ञामहोदधेः।
क्षेमणोद्धियते सारः संसारविषशान्तये।।" (प्र० हृ०, पृ०–63)
2. "प्रतीपमात्माभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा।" (प्र० हृ०, पृ०–101)

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के प्रारम्भ में क्षेमराज का कहना है कि इस संसार में कुछ सुकुमार बुद्धि के लोग हैं, जिनका बौद्धिक विकास नहीं हुआ है। इस कारण तर्क नहीं समझ सकते किन्तु वे शक्तिपात के समावेश से सुलभ होने वाले समावेश के इच्छुक हैं, उनके लिए 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में उपदेश दिया गया है।[1] चूंकि क्षेमराज शिव के परम भक्त हैं, उनका मुख्य भाव यह रहा है कि शिव से आरम्भ और शिव में विलीन होने से सब कुछ शिवमय हो जाता है।[2]

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में प्रमुख रूप से इन विषयों का विवेचन है कि चिति की स्वतन्त्रता ही विश्व की सिद्धि का हेतु है अर्थात् चिति ही विश्व का हेतु शिवत्व-योजना का उपाय और परमार्थ है।[3] यह चिति ही अपनी इच्छा, भित्ति (आधार) पर विश्व को व्यक्त करती है।[4] यह चिति चिद्रूप होने से परासंविद् ही है। जिसे आत्मा कहा जाता है।[5] सदाशिव से लेकर पृथिवी तत्व पर्यन्त सकल विश्व प्रपच्च की सृष्टि, स्थिति एवं संहार इसी द्वारा होता है।[6] वास्तव में इसके विलास से ही जगत् का उन्मेष (सृष्टि) एवं स्थिति होती है और विकास से निवृत्त (संहार) होने पर ही निमेष होता है।[7]

चित्त माया से युक्त होता है। चिति ही संकुचित रूप से चित्त बनती है और उस पर माया का प्रभाव होता है। माया के प्रभाव से चित्त युक्त जीव अपने स्वरूप में अभिमान करने लगता है।[8]

शक्तिपातोन्मिषितपारमेश्वरसमावेशाभिलाषिणः कतिचित्
1. "इह ये सुकुमारमतयोऽकृततीक्ष्णतर्कशास्त्रपरिश्रमाः उन्मीलयते।।" (प्र० हृ०, पृ०-4)
भक्तिभाजः तेषामीश्वरप्रत्यभिज्ञोपदेशतत्व मनाक् ... शिवमयमेव इति शिवम्।।" (प्र० हृ०, पृ०-92)
2. "शिवात् प्रसृतत्वात् शिवस्वरूपाभिन्नत्वात् च (प्र० हृ०, पृ०-44, सू०-1)
3. "चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः।।" (प्र० हृ०, पृ०-48, सू०-2)
4. "स्वेच्छया स्वभितौ विश्वमुन्मीलयति।।" (प्र० हृ०, पृ०-404)
5. (क) "चितिस्तुर्यातीतपदात्मिका परासंवित्।।" (तं० आ०, भा०-3, पृ०-404)
(ख) "चैतन्यात्मा" (शि० सू०-1/1)
6. "विश्वस्य सदाशिवादेः भूम्यन्तस्य सिद्धोपराशक्तिरूपा चितिरेव भगवती स्वतन्त्रा अनुत्तरविमर्शमयी शिवभट्टारकाभिन्ना हेतुः।" (प्र० हृ० पृ०-42)
7. अस्यां हि प्रसरन्तया जगदुन्मिषति व्यवतिष्ठते च, निवृतप्रसरायां च निमिषति।।" (प्र० हृ०, पृ०-22)
8. "तन्मयो मायाप्रमाता।।" (प्र० हृ०, पृ०-56, सू०-6)

यद्यपि यह आत्मा एक है, तथापि द्विरूप, त्रिमय, चतुर्मय तथा सप्तपंचक स्वभाव वाला है। प्रकाश और विमर्श की दृष्टि से आत्मा द्विरूप कहा जाता है। जब तीनों मलों से प्रभावित होता है, तो वह त्रिरूप कहा जाता है तथा शून्य, प्राण, पुर्यष्टक, और शरीर का स्वभाव ग्रहण कर चतुर्मय हो जाता है। सप्तपञ्चक अर्थात् सात प्रमाता होने के कारण सप्तरूप कहा जाता है तथा पाँच कंच्चुक के कारण इसे पञ्चकरूप कहा जाता है।[1] क्षेमराज ने सब दर्शनों की स्थितियाँ उस आत्मा की भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ मानी हैं।[2] जिस प्रकार संसार भगवान् का शरीर है, वैसे ही संकुचित-चिति शक्ति रूप जीवात्मा भी संकुचित विश्वमय शरीर को धारण करने वाला है।[3] अब प्रश्न उठता है कि जीवात्मा संकुचित कैसे हो जाता है, क्योंकि जीव तो शिव रूप है; तो इसका उत्तर यह है कि मल के प्रभाव से चिति चित्त बन जाती है। इस प्रकार उसकी शक्तियाँ संकुचित हो जाती है। इसलिए उस (शिव रूप जीव) को संसारी कहा जाता है। तब वह आवागमन के चक्कर में पड़ जाता है तथा संसरण करने लगता है।[4] यही प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय रूप विश्व के प्रकाशन में कारण है। संसारी की दिशा में भी उसी (शिव) के समान जीव पाँच कृत्य करता है।[5] जिस प्रकार भगवान् अशुद्ध अध्वा में विस्तारक्रम से अपने स्वरूप का विकास रूप सृष्टि इत्यादि करते हैं, वैसे ही संकुचित चित् शक्ति से संसार दशा में भी वह पञ्चकृत्य करते हैं। इस प्रकार व्यवहार दशा में भी प्रभु देह इत्यादि में प्रवेश कर अपने भीतर प्रकाशमान अर्थ समूह को अपनी इच्छा से बाहर व्यक्त करते हैं।[6]

1. "स चैको द्विरूपस्त्रिमयश्चतुरात्मा सप्तपञ्चकस्वभावः।।" (प्र० हृ०, पृ०-5:, सू०7)
2. "तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः।।" (प्र० हृ०, सू०-8)
3. "चितिसङ्कोचात्मा चेतनोऽपि सङ्कुचितविश्वमयः।।" (प्र० हृ०, सू०-4)
4. "चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचत् मलावृतः संसारी।।" (प्र० हृ०, पृ०-65, सू०-9)
5. "तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति।।" (प्र० हृ०, पृ०-67, सू०-10)
6. "तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन्।
भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद्बहिः।।" (प्र० हृ०, पृ०-67)

स्पन्दशास्त्र में भी शिव और जीव की अभेदता ही बतलाई गई है।[1] इस प्रकार वास्तव में सभी जीव शिवस्वरूप ही हैं।[2] इस अभेदता के ज्ञान में ही मुक्ति और अज्ञान में बन्धन है। लोगों में अज्ञान से ही शंका होती है और उसी से जन्म-मरण होता रहता है।[3] अपने स्वरूप का ज्ञान न होने से अपनी ही शक्तियों से मोहित होने से जीवरूपता प्राप्त होती है और वह संसारी हो जाता है,[4] किन्तु जो यह अनुभव करता है कि समस्त विश्व मेरा आत्मा ही है, उसमें विकल्पों के प्रकट होने पर भी महेशता वर्तमान रहती है। अतः कहने का तात्पर्य यह है कि संसारदशा अपनी शक्तियों द्वारा मोहित हो जाना ही है अर्थात् शक्तियों द्वारा मोहित होने पर भी उसमें (जीव में) महेशता विद्यमान रहती है।[5]

यह भगवती चितिशक्ति ही संसार में वमन (सृष्टि) करने के कारण और संसार रूपी वाम (विपरीत) आचार के कारण वामेश्वरी कहलाती है और अपनी खेचरी के रूप के द्वारा सब प्रमाताओं के रूप में, गोचरी रूप के द्वारा सारे अन्तःकरणों के रूप में, दिक्चरी रूप के द्वारा सब बाह्य इन्द्रियों के रूप में, भूचरी रूप के द्वारा सारे पदार्थों के रूप में प्रकट होती हुई, पशुदशा (जीवदशा) में शून्यपद में विश्राम करती है अर्थात् आत्मस्वरूप का गोपन करती है। इस प्रकार 'शून्यादि प्रमाता' बनते हैं अर्थात् चिति ही अपने चेतनपद से उतरकर विषयों को ग्रहण करने से चित्त बन जाती है।[6] ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में भी कहा गया है कि शिव की तीन शक्तियाँ– ज्ञान, क्रिया और माया, जीव दशा में क्रमशः सत्त्व, रजस् और तमस् में परिणत हो जाती हैं। इस प्रकार जीव शिवरूप ही है।

---

1. "यस्मात्सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवात्। तत्संवेदनरुपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः। तस्माच्छब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न या शिवः" (स्प० नि०, 2/3)
2. "सर्वो ग्राहको विश्वशरीरः शिवभट्टारक एव। (प्र० हृ०, पृ०-50)
3. "अज्ञानाच्छङ्कते लोकस्ततः सृष्टिश्च संहृतिः।। (प्र० हृ०, पृ०-71)
4. "तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितता संसारित्वम्।।" (प्र० हृ०, सू० 12, पृ० 70)
5. "सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः। विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता।।" (ई० प्र०, आ०-2, श्लो०-12)
6. "चितिरेव चेतनपदादवरुढ़ा चेत्यसंकोचिनी चित्तम्।" (प्र० हृ०, पृ०-51, सू० 5)

जैसे अग्नि का स्वभाव उष्मता देना है। ढक जाने पर भी थोड़ी मात्रा में
उष्मता देती है उसी प्रकार चिति भी माया से ढ़के होने पर भी मात्रया अर्थात्
कुछ अंश में, नील, पीत इत्यादि प्रमेय रूपी, इन्धन को (प्लुष्यति) जला देती
है।[1] तब यही (चिति) बल लाभ अर्थात् स्वरूप का उन्मेष करके सभी विषयों
को आत्मसात् कर लेती है। भोक्ता ही सब जगह भोग्य के रूप में उपस्थित
होता है।[2]

जब बल लाभ होता है, तो चिदान्नद की प्राप्ति होती है। चित् और आनन्द
का घषीभूत रूप ही आत्मा है अर्थात् वास्तविक रूप है। तब देह (स्थूल शरीरदि)
के कार्य करते रहने पर भी चित्त की शिव के साथ एकता होने पर जीवित
रहते हुए भी मुक्त रहता है। जिसको इस प्रकार का सम्यक् ज्ञान हो जाता
है, वह सब जगत् को शिव की क्रीड़ा के रूप में देखते हुए उससे (शिव से)
युक्त रहने के कारण सदा जीते हुए भी मुक्त ही है।[3] 'मध्य' अर्थात्- चिति
शक्ति को मध्य भी कहा जाता है। पराशक्ति ही सबका अन्तरतम है। जैसे स्थूल
शरीर का अन्तरतम सूक्ष्म शरीर है, वही मध्य है उसी मध्य के विकास में विकल्पक्षय,
शक्ति-संकोच और विकास, बाहों का ध्वंस आदि और अन्त कोटियों (अन्तों)
का अभ्यास इत्यादि यहाँ (मध्य के विकास में) उपाय है।[4] मध्य के विकास
से तथा समाधि के संस्कार से, प्रकाश और आनन्द का सार, महामन्त्र वीर्यरूप
पूर्ण अहन्ता में समावेश होने से प्रभुत्व की प्राप्ति होती है, जो समूह सारे विश्व
की सृष्टि और संहार करता रहता है वही शिव है।[5]

(प्र० हृ०, पृ०-77, सू०-14)
1. चितिवह्निरवरोहपदे छन्नोऽपि मात्रया मेयेन्धनं प्लुष्यति।। (प्र० हृ०, पृ०-79, सू० 15)
2. बललाभे विश्वमात्मसात्करोति।।
3. "यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्। (स्प० शा०, श्लोक-2)
स पश्यन्सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः।।" (प्र० हृ०, सू०-17, पृ०-82)
4. (क) "मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः।।" (प्र० हृ०, सू०-18, पृ०83)
(ख) "विकल्पक्षय शक्तिसंकोचविकासवाहच्छेदाद्यन्तकोटिनिभालनादहोपायाः।।" (प्र०हृ०, सू०-18, पृ०83)
5. तदा प्रकाशानन्दसारमहामन्त्रवीर्यात्मकपूर्णाहन्तावेशात्सदा सर्वसर्गसंहारकारिनिजसंविदेवताचक्रेश्वरताप्राप्ति र्भवतीति
शिवम् (प्र० हृ०, सू०-20, पृ०-93)

जिनको शाङ्कर शक्तिपात हो चुका है; किन्तु जो लोग अनभ्यासवशात् तीक्ष्ण युक्तियों में अक्षम है (तथा इसी कारण) ईश्वर का प्रत्यभिज्ञान नहीं कर सके, उन्ही के लिए इस (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्) में उपदेश किया गया है।[1]

2. **स्पन्दसन्दोह–** राजानक क्षेमराज ने वसुगुप्त की 'स्पन्दकारिका' की प्रथम कारिका को आधार बनाकर 'स्पन्दसन्दोह' नाम की रचना लिखी है,[2] जो भाष्य होते हुये भी मूल रचना की तरह है इसमें स्पन्दतत्व का अति विशद् और महत्त्वपूर्ण ढंग से वर्णन किया गया है।

3. **स्पन्दनिर्णय–** क्षेमराज ने 'स्पन्दकारिका' पर जो टीका लिखी है, वही 'स्पन्दनिर्णय' के नाम से विख्यात है। इसमें सम्पूर्ण स्पन्दकारिका की व्याख्या उपलब्ध होती है। काश्मीर शैवदर्शन में स्पन्दतत्त्व के ज्ञान के लिए यह कृति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।[3] इसकी रचना इन्होंने अपने शिष्य 'शूर' की प्रार्थना करने पर अपने गुरू आचार्य अभिनवगुपत से उपदेश ग्रहण करके की है।[4]

4. **स्वच्छन्दोद्योत–** स्वच्छन्दतन्त्र को भैरव तन्त्रों में प्रधान माना गया है। इसका वर्ण्य-विषय उपासना और क्रिया है। स्वच्छन्द नाम ही कश्मीर शैवदर्शन में भैरव का पर्याय है। अन्य तन्त्रों की भाँति इसका उद्भव भी देवी और भैरव के मध्य हुए दार्शनिक संवाद से हुआ है।[5] 'स्वच्छन्दोद्योत' स्वच्छन्दतन्त्र पर क्षेमराज की एक महत्वपूर्ण व्याख्या है। इसमें क्षेमराज ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा के द्वारा स्वच्छन्दतन्त्र की प्राचीन रचना को खोजकर उसकी अशुद्धियों को दूर किया है, और अद्वैतपरक तर्कसंगत व्याख्या लिखी है।

---

1. येषां वृत्तश्शाङ्करशक्तिपातो येऽनभ्यासात् तीक्ष्णयुक्तिष्वयोग्याः।
शक्ता ज्ञातु नेश्वरप्रत्यभिज्ञा मुक्तस्तेषामेष तत्वोपदेशः।। (प्र० हृ०, पृ०-144)
2. "तत्र आद्यमेव सूत्रं विमृश्यते" (स्प० स०, पृ०-3)
3. "तीक्ष्णां युक्तिकथामुपायघटनां स्पष्टार्थसन्ध्याकृतिम्। ज्ञातुं वाच्छथरचेच्छिवोपनिषदं श्रीस्पन्दशास्त्रस्य तद्वृन्तावत्र
धियं निधत्त सुधियः स्पन्दश्रियं प्राप्नुतः।।" (स्प० नि० श्लोक-3 पृ०-1)
4. (क) "शूरनाम्नः स्वशिष्यस्य प्रार्थनातिरसेन तत्।
निर्णीतं क्षेमराजेन।" (स्प० नि०, श्लोक-4)
(ख) "महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिवगुपतनाथदत्तोपदेशस्य श्रीक्षेमराजस्येति।।" (स्प० नि०, पृ०-78)
5 "मुदितं भैरवं दृष्टवा देवी वचनमब्रवीत।।" (स्व० त० 1/4-7)

5. **नेत्रोद्योत–** 'नेत्रतन्त्र' काश्मीर शैवागम के साधना पक्ष की व्याख्या से सम्बन्धित है। भैरव और भैरवी के सवाद के रूप में इस ग्रन्थ की अवतारणा की गई है। भैरवी की जिज्ञासा का समाधान करते हुए प्रथम अध्याय में भैरव अपने सर्वात्मक अभेद स्वरूप को प्रकट करता है, और शेष अध्यायों में मोक्ष तथा सिद्धिप्रद मन्त्रोद्धार, यजनविधि, भुक्ति-मुक्ति-फलप्रदा दीक्षा, साधन विधि, सुक्ष्मध्याननिरुपण आदि साधनात्मक पक्षों का सविस्तार वर्णन किया गया है। क्षेमराज ने 'नेत्रोद्योत' संज्ञक नेत्रतन्त्र पर टीका लिखा है। इसमें शैव सिद्धान्तों का सफल प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ के बाईस अधिकार और दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में पन्द्रह तथा द्वितीय खण्ड में सात अधिकार हैं। इसको 'मृत्युञ्जयतन्त्र' भी कहते हैं।

6. **विज्ञानभैरवोद्योत–** 'विज्ञानभैरव' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। इस पर क्षेमराज के अतिरिक्त भट्ट आनन्द और शिवोपाध्याय ने भी भाष्य लिखे हैं। यह शिव द्वारा शक्ति के माध्यम से जगत्-कल्याणार्थ उक्त रचना है। इसमें 112 धारणाओं का वर्णन किया गया है, जिससे जीव आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है।

7. **शिवसूत्रविमर्शिनी–** यह शिवसूत्रों पर एक महत्त्वपूर्ण भाष्य है। इसमें शिवसूत्रों की विस्तृत एवं सम्यग् व्याख्या की गई है। शिवसूत्र दैवीज्ञान से सम्बन्धित हैं। साक्षात् शिव ने इनका ज्ञान वसुगुप्त को जगत्-कल्याणादि दिया था। इसमें पहले भी शिवसूत्रों पर बहुत से भाष्य थे, लेकिन उनमें असामञ्जसता थी। उनको दूर करके इसके अर्थ को स्पष्ट करने के लिए ही इन्होंने इस पर सारगर्भित विमर्शिनी लिखी है, जो अति प्रसिद्ध है।

8. **स्तवचिन्तामणिटीका–** भट्टनारायण कण्ठ की 'स्तवचिन्तामणि' पर क्षेमराज द्वारा रचित विवृत्ति ही 'स्तवचिन्तामणिटीका' के नाम से विख्यात है। क्षेमराज की बहुमुखी प्रतिभा का बोध कराने वाली यह विवृति शिव– आराधनापरक हैं।[1]

---

1. "श्रीरामेण कृतात्र सद्विवृतिरित्येषा किमर्थेति मा सन्तश्चेतसि कृध्वमस्ति विवृतो कोऽषि प्रकर्षोऽत्र यत्। तेनार्थिप्रणयाद्विनैस्त्रियतुरैर्या क्षेमराजो व्याधात् क्षेत्रे श्रीविजयेश्वरस्य विमले सैषा शिवाराधनी।।" (स्व० चि० म०, पृ०-130, श्लोक-2)

9. **पराप्रावेशिका–** यह क्षेमराज की लघुतम रचना है।[1] इनकी यह रचना काश्मीर शैवदर्शन के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इसमें महेश्वर की स्तुति की गई है। उसे प्रकाश, विमर्श और इच्छाशक्ति युक्त सिद्ध किया गया है। वह विमर्श के अभाव में अनीश्वर सम्भावित है। चित्, चैतन्य, परावाक्, स्वातन्त्र्य ईश्वरीय वैभव, कर्तृत्व, स्फुरण, स्पन्द आदि विमर्श के पयार्य कहे गए हैं।[2] इसमें छत्तीस तत्वों का भी वर्णन किया गया है। जगत् की ईश्वर से अभिन्नता स्वीकार की गई है एवं शक्ति के माध्यम से ही परमशिव जगत् में स्फुरित होते हैं।

1. स्वातन्त्र्यं, परमात्मनो मुख्यमैश्वर्यं कर्तृत्वं, स्फुरता, सारः हृदयं, स्पन्दः इत्यादि शब्दैरागमेषूद्घोष्यते।। (परा प्रा०, पृ०-2)

द्वितीय अध्याय

चितिशक्ति का स्वरूप

(क) परमशिव एवं पराशक्ति

(ख) मुख्य शक्तियाँ- चित् आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया

(ग) पञ्चकृत्य- सृष्टि, स्थिति, संहार, विग्रह, अनुग्रह

(क) परमशिव एवं पराशक्ति

सामान्यतः धर्म मनुष्य की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है। आज की विकासशील संस्कृति, सामाजिक चेतना तथा लोकतान्त्रिक परिवेश मताग्रही धार्मिक परम्परा को अधिक महत्त्व नहीं देता। आज का मानव मात्र श्रद्धाजीवी न रहकर तर्क को अधिक महत्त्व देने लग गया है। आज मनुष्य को ऐसे धर्म की खोज है, जिसमें आध्यात्मिक शान्ति के साथ-साथ बुद्धि विमर्श तथा दार्शनिक चिन्तन के लिए भी स्थान हो। भारतीय धर्म और विशेषतया शैवधर्म में ये तत्व शुरू से ही विद्यमान थे।

आज का मानव इस रहस्य को समझना चाहता है कि यह जगत् क्या है। कहाँ से आया? कहाँ जाता है? स्वयं बना है? कोई बनाता है अथवा किसी दैवी शक्ति का विलास है? स्वभाव, काल, दैव, भाग्य अथवा प्रकृति का खेल है? सभी दर्शनों में अपने-अपने ढंग से इस तथ्य पर विचार मिलते हैं। काश्मीर शैव दर्शन में विशेषकर 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में इसे निति शक्ति का विलास बतलाया गया है।[1] यह निति शक्ति क्या है, इसका स्वभाव अथवा स्वरूप क्या है? इसका विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है।

काश्मीर शैव दर्शन में इस चिति शक्ति की परमार्थसत्ता माना गया है, जिसे परमशिव अथवा पराशक्ति भी कहते हैं।

शिव और शक्ति

सारे नामरूपात्मक व्यक्त और भावनात्मक अव्यक्त विश्व को जीवन देने वाली एवं प्रत्येक पदार्थ की आत्मभूत एक ही मौलिक चैतन्य सत्ता शाश्वत रूप में विद्यमान है। उस सत्ता का नाम 'शंकर' या 'शिव' रखा गया है। यद्यपि यह नाम-रूप से परे है तथापि उसका ऐसा नामकरण करने में एक विशेष अभिप्राय अन्तर्निहित है। वह यह कि सामान्य रूप में स्वतन्त्र इच्छा के द्वारा सृष्टि, स्थिति,

1 चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतुः (प्र० हृ०, सू०)

संहार, पिधान और अनुग्रह ये पाँच कृत्य, प्रति समय करते रहने पर भी उसका
अनुग्रहात्मक कृत्य एक ऐसा विशेष कृत्य है जिसके द्वारा वह जन्म-मरण रूपी
चक्की के पाटों में पिसे जाते हुए अणुओं के सारे भेदभावना से पूर्ण अज्ञान
को देर करके, उनका कल्याण करता है।[1]

यही चैतन्य अथवा चेतन सब प्रकार के ज्ञान और क्रिया में स्वतन्त्र है,
क्योंकि चैतन्य ही आत्मा है।[2] अतः चैतन्य परिपूर्ण स्वतन्त्र की एक मात्र सत्ता
'परमशिव' को माना गया है जिससे सृष्टि स्थिति और संहार होता है, बाकी
अनाश्रित शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त सारे तत्व उसी पर आश्रित हैं, वह चैतन्य
है, वह आत्मा है। उस (परमशिव) की एक स्वतन्त्रय शक्ति है। प्रायः सभी
प्रकार की शक्तियाँ इसी (स्वातन्त्र्य शक्ति) के अन्तर्निहित रहती हैं। यह निरपेक्ष
अनिरुद्धप्रभुसत्ता अथवा स्वातन्त्र्य अन्धशक्ति नहीं है। यह चित् का स्वभाव है।
यही स्वातन्त्र्य महेश्वर (परमशिव) की कल्पना का वेद्यरुपेण उपस्थापन करता है।
यह शक्ति स्वतन्त्र इसलिए कहलाती है कि यह अपने से ब्राह्म किसी उपादान
अथवा उपकरण की अपेक्षा नहीं रखती। यह कुछ भी करने या होने में समर्थ
है। यह देश, काल या कारण आदि से परे है, क्योंकि इनकी अपनी सत्ता उसी
के द्वारा है।[3]

जिसमें सब कुछ स्थित है और जिसमें यह समस्त अभिव्यक्त होता है, उस
स्वयं अनाहत रुप का कहीं भी निरोध नहीं हो सकता है, जिसमें न दुःख-सुख
का, न ग्राह्य ग्राहक का और न ही किसी प्रकार का भेदभाव है। वह परमार्थ
तत्व शिव अथवा चैतन्य सर्वदा स्वप्रकाश से स्फुरित होता रहता है। अतः संसार
की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो शिवमयी न हो अर्थात् सम्पूर्ण जगत् ही शिवमय
है।[4] परमशिव कैसा है, तो कहते हैं, सर्वथा अर्थात् हर प्रकार से जो पूरिपूर्ण

---

1. 'स्पन्दकारिका' – (पृ० 15, 16)
2. "चैतन्यात्मा" – (शि० सू०–1)
3. चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता। (ई० प्र० वि० 1.5.13)
   स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः।।
4. "यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम्। (स्प० का०, श्लो०–2)
   तस्यानावृतरूपत्वान्न निरोधोऽस्ति कुत्रचित्।।"

है। वह शिव चित् और आनन्द का घनीभूत रूप है। उसके परे कुछ नहीं।
जगत् की जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे क्षर हैं अर्थात् विनाशशील हैं। वह परमेश्वर
अक्षर है।[1]

परमसत्ता सृष्टि के निर्माण का हेतु है, जिसमें शिव से पृथ्वी पर्यन्त सृष्टि
होती है। परमशिव प्रकाश स्वरूप है। किसी की आवश्यकता से रहित अर्थात् पूरिपूर्ण,
स्वात्मविश्रान्ति के कारण महानन्द इच्छा, ज्ञान, क्रिया से भरा हुआ तथा अनन्त
शक्तियों से पूर्ण है। सभी विकल्पों से विरहित वह शुद्ध, शान्त, लय और उदय
से विहीन जो परमतत्त्व है, वही इस विश्व का कारण रूप है।[2]

यह जो परमशिव है, उसी परमशिव से लेकर पृथ्वी तक का विश्व विश्रान्त
होकर प्रकाशित होता है अर्थात् उस (शिव) से अभिन्न होकर ही विश्व प्रकाशमान
है। स्वात्मविश्रान्ति के कारण महानन्द कहा जाता है। स्वात्मा अर्थात् स्वभाव अखण्ड
अहन्ता चमत्कार के रस में विश्राम करने के कारण उसे महान् आनन्द या परम
निवृति होती है। परमशिव को इच्छा, ज्ञान और क्रिया से भरा हुआ कहा गया
है, शान्त ब्रह्म को मानने वालों की तरह वह शक्तिविहीन अथवा जड़ नहीं है।
यह परमशिव अनन्त शक्तियों से पूर्ण है। अनन्त अर्थात् संख्यातीत घटपटादि स्वरूपिणी
नाम रूपात्मिका शक्तियाँ, जो इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्तियों की पल्लवभूता
हैं। शक्तियाँ उसी शिव से उठकर उसी में विलीन हो जाती हैं। इससे स्पष्ट
है कि भगवान् का स्वातन्त्र्य परावाक् स्वरूप हैं।[3] यह परावाक् स्वरूप ही पराशक्ति

---

1. सर्वथा त्वन्तरालीनानन्ततत्त्वौघनिर्भरः
शिवः चिदानन्द्यान परमाक्षरविग्रहः।। (ई० प्र०, अधि०-4, श्लो०-14)

2. (क) भारुप परिपूर्ण स्वात्मनि विश्रान्तितो महानन्दम।
इच्छासंवित्करणैर्निर्भरितमनन्तं शक्ति परिपूर्णम। (पार, सा०, का०-10)
(ख) सर्वविकल्पविहीनं शुद्ध शान्त लयोदयविहीनम्।
यापरतन्वं तस्मिन् विभाति षटत्रिंशदात्म जगत्।।

3. (क) प्रत्यवमर्शश्च आन्तराभिलाषात्मकशब्दस्वभावः, तच्च शब्दनं संकेतनिरपेक्षमेवाविच्छन्नचमत्कारात्मकम्
अन्तर्मुखशिरोनिर्देशप्रख्यम अकारादिमायीयसांकेतिकशब्दजीवित भूतनीलमिदं चेत्रोऽहमित्यादि
प्रत्यवमर्शान्तरमितिभूतत्वात् पूर्वत्वात् परा वक्ति विश्वम् अभिलपति प्रत्यवमर्शेन द्वति च वाक् .
... (ई० प्र० वि०, पृ० 252-53)
(ख) सर्वस्यहि मन्त्र एव हृदयम् मन्त्रश्च विमर्शनात्मा, विमर्शनं च परावाक्छक्तिभयमा....
(तदेव, पृ० 263-64)

या चिति शक्ति भी है। इसी भगवती चिति शक्ति को विमर्श, चित्, चैतन्य, स्वरसोदिता, परावाक्, स्वातन्त्र्य, परमात्मा का मुख्य ऐश्वर्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता, सारा, हृदय, स्पन्द-इत्यादि शब्दों द्वारा आगमों में अभिहित किया गया है।[1] इसी को पराचिति, पराशक्ति, परा, परमेश्वरी, देवी, महादेवी, भैरवी, परमसत्ता, कालकर्षिणी महामातृका आदि नामों से स्मरण किया जाता है। यही भगवती परा प्रतिभा, ललिता, स्वात्मा, वामेश्वरी, व्योमवामेश्वरी कही जाती है।

यदि चिति की सिद्धि के प्रमाण प्रस्तुति को कहें तो इसके उत्तर में त्रिक्सार-कार ने इसे बैन्दवी कला के समान माना है।[2] विधि क्रिया में स्वतन्त्र होने के कारण शिव को बिन्दु कहा जाता है, उनकी कला (शक्ति) वैन्दवी कला कही जाती है। अर्थात् जिस प्रकार शिर की छाया को लांघना भी चाहें, तो नहीं लाङ्घ सकते उसी के समान ही चिति शक्ति का पार नहीं पाया जा सकता है। जब जीव को इसके स्वतान्त्र्य की प्रत्यभिज्ञा हो जाती है। तब यही भोग-मोक्ष रूप सम्पूर्ण सिद्धियों की हेतु बनती है।

शिव जीव से अभिन्न है, क्योंकि देहधारी रूप को ग्रहण कर जीव भाव से युक्त शिव ही है।[3] अतः परमशिव का रूप जीव से भिन्न नहीं होता। यह परमशिव देव, पशु, मनुष्य तथा पादपं के रूप अर्थात् आकार को धारण करता है। ठीक उसी प्रकार जैसे निर्मल स्फटिक (मणि) विविध वर्णों (नीलपीत) का रूप धारण कर लेती है।[4]

परमशिव ही एकमात्र परमार्थसत्ता है। कश्मीर शैव दर्शन में परमार्थसत्ता को प्रकाश और विमर्श रूप माना गया है। प्रकाशरूप 'शिव' एवं विमर्शरूप उसकी 'स्वातन्त्र्य शक्ति' कहलाता है। जिस प्रकार अग्नि से उसका उष्णत्व, जल से

---

1. "एष एव च विमर्शः-- चित् चैतन्यं, स्वरसोदिता, परावाक्, स्वतन्त्र्यं, परमात्मनो मुख्यमैश्वर्यं, कर्तृत्वं, स्फुरता, सारो हृदयं, स्पन्दः इत्यादि-शब्दैरगमेषूद्घोष्यते" (परा० प्रा०, पृ० 2)
2. स्वपदास्वाशिरछायां यद्वल्लंघितुमीहते।
   पादोद्देशे शिरो न स्यात्तयेयं बैन्दती कला।। (त्रि० सा०)
3. भोक्ता च तन्त्र देही शिव एव गृहीत पशुभावः (पर० सा०, का०--5)
4. नानाविधवर्णानां रूप धत्ते यथामलः स्फटिकः।
   सुरमानुषपशुपादपरूपत्वं तद्वदीशोऽपि।। (तदेव, का०-6)

उसका शीतलत्व, पुष्प से उसकी सुगन्धि कभी पृथक् नहीं होते, उसी प्रकार शिव
और शक्ति में सदा अभिन्नता रहती है। यह शक्ति (चिति शक्ति) विश्वात्मिका
और विश्वोत्तीर्णा भी है। परमेश्वर का हृदय (स्वभाव, विमर्श) है तथा परा, पश्यन्ती,
मध्यमा, वैखरी आदि शक्तिवर्ग के रूप में स्फुरित होने वाली संवित् है।[1] विमर्श
से तात्पर्य विश्वाकार, विश्वप्रकाश, और विश्वसंहार रूप में अकृत्रिम 'अहम्' का
विस्फुरण है।[2] यह विमर्श के कारण ही ईश्वर का ऐश्वर्य होता है, अन्यथा एक
जड़ में और उसमें (शिव) कोई अन्तर न रहता।[3] क्योंकि प्रकाश तो जड़
घट-पट-दर्पणादि का भी होता है, परन्तु उनमें विमर्श नहीं होता।[4]

इस भगवती शक्ति की किसी निश्चित् रूप, रङ्ग, आकार में इतिश्री करना
सर्वथा असम्भव है। यह निराकार एवं साकार-अभयरूपा एवं उससे भी परे है।
जगत् में जिस किसी वस्तु की भी सत्ता है, वह इन्हीं में इनके कारण एवं
इनके ही द्वारा है।[5] आचार्य अभिनवगुप्त 'चिति' अथवा 'परमशिव' के स्वातन्त्र्य
का विवेचन करते हुए कहते हैं कि रुद्र से लेकर स्थावर पर्यन्त प्रमाता के रूप
में और नील, सुखादि प्रमेय के रूप में प्रकट होता है। ये प्रमाता और प्रमेय
उससे अभिन्न होते हुए भी भिन्न की भाँति भासित होते हैं। किन्तु ये उसके
स्वरूप को ढक नहीं सकते।[6]

आचार्य क्षेमराज के अनुसार 'चिति' अपने ही स्वातन्त्र्य भाव से युक्त होकर
स्वेच्छा से ही इस विश्व की रचना करती है।[7] स्वेच्छया से अभिप्राय है-- अपनी

---

1. "विश्वात्मिकां तदुत्तीर्णां हृदयं परमेशितुः।
परादिशक्तिरूपेण स्फुरन्तीं संविदं नुमः।।" (परा० प्रा०, श्लोक-1)
2. "इह खलु परमेश्वरः प्रकाशात्मा, प्रकाशश्च विमर्शस्वभावः, विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहरणेन च अकृत्रिमऽहम् इति विस्फुरणम्"- (परा० प्रा०, पृ०-1, 2)
3. "यदि निर्विमर्शः स्यात् अनीश्वरो जड़श्च प्रसज्येत्"- (परा० प्रा०, पृ०-2)
4. (क) स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः।। (ई० प्र०, का०, 1/42)
(ख) "अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः।
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्षद् घटादिवत्।।" (तं० आ०, 3/100)
5. "यच्च किञ्चित् क्वचिद्वस्तु सदसद्वाऽखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सत्वं किं स्तूयसे तदा।।" (दु० स०, 1/83)
6. ई० प्र० वि० पृष्ठ-9
7. "स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।।" (प्र० भि० हृ०, सुत्र-2)

इच्छा से, ब्रह्मादिकों के अनुसार माया की इच्छा से नहीं तथा अपने ही आधार पर पहले से निर्मित विश्व को, दर्पण में नगर के समान अभिन्न होते हुए भी भिन्न के सदृश उन्मीलित करती है। शिव से लेकर सकल पर्यन्त सप्त प्रमाताओं और शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों के वर्गों से ओतप्रोत यह विश्व पराशक्ति के संकुचित हो जाने से नाना प्रकार का है।[1] अतः विश्व भी उनके प्रकाशैकात्म्य से ही अवस्थित रहता है।[2]

परमशिव अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में अवस्थित विश्व को सदाशिवादि रूप से प्रकाशित करने की इच्छा करते हुए पहले, चिदैक्य सङ्कोचमय अनाश्रित शिव अथवा शून्यातिशून्य रूप में प्रकाशात्मक तथा प्रकाशमान् रूप में स्फुरित होते हैं। पश्चात् सम्पूर्ण तत्त्व, भुवन, भाव तथा भिन्न-भिन्न प्रमाताओं के रूप में अपने को विकसित करते हैं। जिस प्रकार भगवान् विश्वरूप शरीर वाले हैं, वैसे ही सङ्कुचित चित् रूप प्रमाता भी वट वृक्ष के बीज के समान संङ्कुचित समस्त विश्वरूप होता है। 'परात्रिंशिका' में भी कहा गया है कि जैसे वट वृक्ष के बीज में अतिसूक्ष्म (शक्ति) रूप में महान् वृक्ष अपने फूल-फल-पत्र-शाखा-प्रशाखादि की विशिष्टताओं को समाहित किये रहता है, वैसे ही 'हृदय' (चितिशक्ति, पराशक्ति) में चराचर जगत् बीजरूप में विद्यमान रहता है।[3] इसी प्रकार सिद्धान्त का वचन है- "वह (परमशिव) पृथक्-पृथक् रूप से शरीर भी है तथा शरीरी भी एवं समष्टि रूप से समस्त शरीरों का शरीरी- 'आत्मा' है।"[4]

परमशिव को शक्तिरूप मानना आगमिक दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है। शिव की स्पन्दशीलता या क्रियात्मकता को शक्ति नाम से अभिहित किया गया

---

1. "तन्नाना अनुरूपग्राह्यग्राहकभेदात्।।" (प्र० हृ०, सू०-3)
2. "उन्मीलनं च अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम् इत्यनेन जगतः प्रकाशैकात्म्येन अवस्थानम् उक्तम्" (प्र०हृ० टी०, सू०-2)
3. (क) "यथान्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
   तथा हृदयबीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम्।।" (परा० त्रिं०, 34)
   (ख) "हृदयं बीजमेतस्यां सारं यत्तत्परं महः।
   वटबीजे तथा वृक्षस्तथात्र निहितं जगत्।।" (अनु० प्र० पं०, का० 41)
4. "विग्रहो विग्रही चैव सर्व विग्रह विग्रही।" (प्र० हृ०, पृ०-11)

है। शिव पूर्ण है और उसी पूर्णता से लीला के रूप में सृष्टि होती है। किन्तु यही परमशिव जीव की अवस्था में अज्ञान के कारण सब कुछ करने में समर्थ नहीं होता। इस अवस्था में वह जो कर्म करता है, वे सीमित रूप में होते हैं। लेकिन आत्म-बल के स्पर्श से किया गया कर्म शैवी धर्म तक पहुँचाने वाला होता है। जब जीव अपने आत्म-स्वरूप को ईश्वर के ज्ञान से पहचान लेता है, तो शैवी धर्म की प्राप्ति होती है। तब शिवसूत्रों के अनुसार जीव शिव के तुल्य हो जाता है।[1] स्पन्दशास्त्र अनुसार उसमें सर्वज्ञतादि शक्तियाँ आ जाती हैं।[2]

'शक्ति' के लिए "स्पन्द" शब्द प्रयोग किया जाता है। यह स्पन्द दो प्रकार का होता है– "सामान्य स्पन्द", "विशेष स्पन्द"। "अहं शिवो" यह सामान्य स्पन्द है। विशेष स्पन्द में माया का प्रभाव रहता है, शुद्ध स्वरूप ढक जाता है। तब नानात्व की प्राप्ति होती है। जो मुक्ति की अवस्था वाला है, वह सामान्य स्पन्द है। विशेष में गुण की प्रधानता रहती है। "मैं सुखी हूँ", "मैं दुःखी हूँ"– ऐसा अनुभव रहता है। सामान्य स्पन्द से क्रियामान होकर विशेष स्पन्द होता है। जो आत्मस्वरूप का अनुभव कर लेते हैं, उनके लिए यह विशेष स्पन्द विघ्न नहीं डालता।[3]

यह परमशिव प्रमाता और प्रमेय अथवा ज्ञाता और ज्ञेय दोनों है। शिव अनुभव कर्त्ता भी है और स्वयं अनुभूत पदार्थ भी है, क्योंकि वह अनुभव करने वाला आत्मा तथा अनुभूत होने वाला जगत् दोनों हैं।[4] अपने अन्तः स्वरूप में ही निहीत अद्भुत शक्ति के माध्यम से वही स्वयं को ब्रह्माण्ड के रूप में प्रकट करता है, तथा विभिन्न अवस्थाओं को धारण करने पर भी वह अपने यथार्थ स्वरूप से च्युत नहीं होता।

---

1. "शिवतुल्यो जायते"– शि० सू०, 3/25
2. "न हीच्छानोदनस्याग्रं प्रेरकत्वेन वर्तते।
   अपि त्वात्मबलस्पर्शात् पुरूषस्तत्समो भवेत्।।" (स्प० का०, श्लोक–8)
3. (क) "गुणादिस्पन्दनिःष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात्।
   लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः।।" (स्प० का०, श्लोक–19)
   (ख) "अप्रबुद्धधियस्त्वेते स्वस्थितिस्थगनोद्यताः।
   पातयन्ति दुरूत्तारे घोरे संसारवर्त्मनि।।" (स्प० का०, श्लोक–20)
4. "भोक्तैव भोग्यभावेन सर्वत्रावस्थितिः" (स्प० का०, 2/29)

शिवदृष्टि में कहा गया है कि शिव और शक्ति में कभी भेद नहीं होता,
प्रत्युत् वह्नि और उष्णता, जल और शीतलता की तरह पूर्णाभेद है।[1] श्रीमृत्युञ्जय
भट्टारक में भी शिव-शक्ति की स्वाभाविक अभेदता अग्नि-ऊष्मा, रवि-रश्मि की
भाँति मानी गई है तथा सम्पूर्ण जगत् की भी उसे कारणात्मिका कहा गया है।[2]
श्रीमत्स्वच्छन्द तन्त्र में कहा गया है कि वह पराशक्ति सभी शक्तियों (देवियों) में
विविध नाम एवं रूपों के रूप में विद्यमान है अर्थात् वही सब नाम-रूपों को
धारण करती है, योगमाया से अपने यथार्थ स्वरूप को छुपाये रखती है। अभिनवगुप्त
अपने स्तोत्रों में उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं। कहीं तो वे उस स्वातन्त्र्य
पराशक्ति को "निजेच्छाप्रसरता" कहते हैं।[3] कहीं वे उसे "चमत्कृति" नाम देते
हैं।[4] चमत्कृति का अर्थ है– आत्मचर्वणा तथा आत्मपरामर्श। वे उसे स्फुरत्ता की
संज्ञा भी देते हैं। इसी स्फुरत्ता से यह भाव-जगत् स्फुरित होता है तथा वह
देश तथा काल की परिधि से परे है। देश, काल, आकारादि इसी से अवभासित
होते हैं अतः यह उनसे अनवच्छिन्न है।[5] प्रमाण भी अभिनव अर्थ प्रकाशनरूप
होने से स्वतन्त्र, अपरिच्छिन्न, स्वतः सिद्ध तथा स्वप्रकाशरूपा पराभगवती को सिद्ध
करने में न तो उपयुक्त ही है और न ही उसका अस्तित्व इनके बिना सम्भव है।[6]

विश्वलीला के अवरोहण क्रम में भगवती चितिशक्ति ही संसार को वमन
(प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयमय=शिवादि धरणि पर्यन्त=नील=सुख-देह-प्राणादि-जड़-चेतनरूप
अन्तः स्थित विश्व को बाह्य अभिव्यक्त) करने एवं संसाररूपी वाम (विपरीत) आचार
के कारण "वामेश्वरी" संज्ञित होती है। तब वहीं जगत् विकास क्रम के प्रसरण

1. "न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।। शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते न हिमस्य पृथक
शैत्यं नाग्नेरौष्ण्यं पृथग्भवेत्" (शि० दृ० 3/2, 3,7)
2. "सा ममेच्छा परा शक्तिरवियुक्ता स्वभावजा। वह्नेरूष्मेव विज्ञेया रश्मिरूपा रवेरिव।। सर्वस्य जगतो वापि
सा शक्तिः कारणात्मिका।" (ने० तं०. 1/25-26)
3. "अयुष्मात् संपूर्णात् रसमहोल्लाससरसात्।
निजां शक्तिं भेदं गमयति निजेच्छाप्रसरतः।।" (क्र० स्तो०)
4. विश्वस्वभावपटले परिजृम्भमाणविच्छेदशून्यपरमार्थचमत्कृतिर्या। (अ० स्तो०)
5. (क) "चितिः इति एकवचन देशकालाद्यनवच्छिन्नताम् अभिदधत् समस्तभेदवादानाम् अवास्तवतां व्यनक्ति।।"
(प्र०हृ० टी०, सू०-1)
(ख) "अत एव देशकालाकारा एतत्सृष्टा एतदनुप्राणिताश्च नैतत्स्वरूपं भेत्तुमलम्" (प्र० हृ० टी, सू०-1)
6 "ततोऽस्याः स्वतन्त्रापरिच्छिन्नस्वप्रकाशरूपायाः सिद्धौ अभिनवार्थप्रकाशनरूपं न प्रामाणवराकमुपयुक्तम् उपपन्नं
वा।।" (प्र० हृ० टी०, सू०-1)

में खेचरी-गोचरी-दिक्चरी-भूचरी रूपों द्वारा क्रमशः सभी प्रमाता-अन्तःकरण-बाहिष्करण भाव स्वभावों (पदार्थभावों) के रूप में स्फुरित होती है।[1]

परमशिव की अपनी स्वभावभूत विमर्शात्मक क्रिया ही उसकी परमेश्वरता है। इसी के प्रभाव से वह सदैव पञ्चकृत्यकारिता के प्रति अभिमुख बना रहता है। यदि उसमें सृष्टि, संहृति आदि पञ्चकृत्यकारी स्वभाव न होता, तो वह शून्य गगन के समान जड, रिक्त और अनीश्वर होता।[2] यह क्रियारूपता या शक्तिरूपता उसका स्वातन्त्र्य कहलाता है। वह शक्ति जो सूक्ष्मा, व्यापिनी, निर्मला और शिवा है, वह शक्ति समूह की जननी है और परानन्दा अमृतात्मिका है। वही महाघोरेश्वरी, चण्डा, सृष्टि और संहार करने वाली है। इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना, त्रिनाड़ियों में वहन करने वाली, सोम, सूर्य-वह्निरूपा, अतीत, वर्तमान, अनागतरूप बाह्य काल के उल्लासन और विलापन में सर्वथा समर्थ है।[3] परमशिव उस स्वातन्त्र्य शक्ति को स्वयमेव, स्वतः अपने ही भीतर, अपने को ही तथा अपनी ही महिमा के बल से अनन्तवैचित्र्यपूर्ण संसार के रूप में प्रकट करता रहता है। ऐसा करने के लिए उसे न तो अनादि और अनिर्वचनीय अविद्या की, न अनादि वासना की न ही अनादि अविवेक की, न ऐसे ही मिथ्या ज्ञान की और न ही अनादि कर्म आदि किसी भी वस्तु की आवश्यकता पड़ती है। वह इनमें से किसी एक की भी अपेक्षा से सृष्टि, संहार आदि में प्रवृत नहीं होता, अपितु अपनी इच्छा अर्थात् स्वातन्त्र्य से प्रवृत्त होता है।

परमशिव अपनी परिपूर्ण चमत्कार से आविष्ट हो जाता है, तो सृष्टि के प्रति उमंग में आकर उसके प्रति उन्मुख होता हुआ अपने निर्मल प्रकाश के भीतर

---

1. "चितिशक्तिरेव भगवती विश्ववमनात् संसारवामाचारत्वाच्च वामेश्वर्याख्या सती, खेचरी-गोचरी-दिक्चरी-भूचरीरूपैः परिस्फुरन्ती।" (प्र० हृ० टी, सू०-12)
2. "बिन्दुनर्दिस्तथा व्योम मन्त्रो भुवनविग्रहौ। षड्वस्त्वात्मा शिवो ध्येयः फलभेदेन साधकैः (तं० लो०-3, पृ० 100)
   उन्मना तु परो भावः स्थूलस्तस्यापरो मतः।
   पुन शुन्यं च व्योमात्मा संस्पर्श च ततः परम्।।
   शब्दो ज्योतिस्तथा मन्त्राः कारण भुवनानि च।" (तदेव, पृ० 101)
3. या सा शक्तिः परा सूक्ष्मा व्यापिनी निर्मला शिवा। शक्तिचक्रस्य जननी परानन्दामृतात्मिकामहाघोरेश्वरी चण्डा सृष्टिसंहारकारिका। त्रिवहं त्रिविधं त्रिस्थं बलात्कालं प्रकर्षति।।

अपनी स्वतन्त्र और अनरुद्ध इच्छा से अपनी शक्तियों के प्रतिबिम्बों को अभिव्यक्त करता है।[1] यह अभिव्यक्ति ही सृष्टि-संहार आदि के रूप में प्रकट हो जाती है। वही इस विश्व का निमित्त कारण भी है, उपादान कारण भी। शिव अपना भेद-प्रथन तथा वैचित्र्यावभासन माया के माध्यम से करता है। यहाँ उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति माया की शक्ति के रूप में अभिव्यक्त होती है तथा उसके वास्तविक स्वरूप का तिरोधान कर देती है, और इस प्रकार अशुद्ध सृष्टि की अवभासन प्रक्रिया चल पड़ती है। किन्तु यह सब परमशिव की इच्छा से तथा उसके भेद-लीला-विलास के रूप में ही होता है। किन्तु जैसे ही उसकी यह क्रीड़ा समाप्त होती है, शिव अपनी भेदवृत्ति त्याग कर पुनः अपने वास्तविक स्वभाव अर्थात् अभेदवृति प्राप्त कर लेता है तथा पूर्ण अद्वय तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है अर्थात् यह भेद प्रकाशन की प्रक्रिया उसके अद्वय भाव की पूर्णता को और अधिक परिपुष्ट कर देती है। परमशिव यदि अपने स्वरूप का गोपन और प्रकाशन न करे, तो उसकी शिवता कैसी? अनेक रूपों में ऐसा अभिनय करते रहना ही उसकी परमशिवता है। इसे ही उसका स्वातन्त्र्य कहते हैं। जो कुछ भी इस संसार में है, वह परमशिव ही है। जैसे मिट्टी के घड़े, प्याले इत्यादि सभी वस्तुतः मिट्टी ही हैं, वैसे ही सुख दुःख आदि और नीलपीत आदि आन्तर और बाह्य सभी पदार्थ तथा प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण का सारा प्रपञ्च वस्तुतः परमशिव ही है।[2] उसकी यह विश्वमयता ही उसकी पराशक्ति या शक्तिस्वरूपता है। इसी स्वभाव के कारण वह पराशक्तिरूप भी है। क्रियात्मकता ही उसकी परमेश्वरता है। इसी के माहात्म्य से वह जीवरूप में और जगत् के रूप में अनन्त अनन्त सुविचित्र आकारों में प्रकट होता रहता है। वे आकार संवित् में संवित् ही होते हैं। संवित् परमशिव है। अतः वे आकार भी परमशिव ही होते हैं। तो परमेश्वर उनको जगत् के रूप में प्रकट करता हुआ अपने आपको ही उस रूप में प्रकट करता है।[3]

---

1. प्रत्यभिज्ञा दर्शन और माया, पृ०-163, पंक्ति-10
2. भवदावेशतः पश्यन् भावं भावं भवन्मयम्।
विचरेयं निराकांक्षः प्रहर्षपरिपूरितः।। (शि. स्तो. 6-5)

(ख) मुख्य शक्तियाँ– चित्, आनन्द, इच्छा ज्ञान, क्रिया

परमशिव को किसी भी प्रमाण इत्यादि के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि चित् रूपी भगवान् शिव ही एक आत्मा है, दूसरा कोई नहीं। ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसमें आत्मतत्त्व नहीं है। वह स्वतः सिद्ध है, क्योंकि प्रमाणादि भी उसी से प्रमाणित होते हैं। वस्तुतः वह देश, काल और आकार की सीमा से सर्वथा अतीत है। प्रकाश रूप आत्मा का देश, कालादि द्वारा भेद नहीं किया जा सकता। परमशिव पूर्ण सत्य है और इससे स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं है। उसे निर्गुण और सगुण दोनों कहा जा सकता है।

शिवरूपी आत्मा को ''सप्त पञ्चक'' भी कहा जाता है।[1] इसका अर्थ दो प्रकार से कर सकते हैं– पहला यह कि आत्मा का सप्तपञ्चक वाला स्वभाव है। अर्थात् शिव से लेकर पृथिवी तक वह (7×5) 35 तत्त्वों के स्वभाव वाला है। दूसरा प्रकार यह है जिसमें सप्त और पंचक को पृथक् पृथक् लिया जाता है। वह (आत्मा) शिव से लेकर सकल तक सात प्रमाताओं से युक्त है। चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों से युक्त होते हुए भी अख्यातिवशात् (अज्ञान) इसे कला, विद्या राग, काल तथा नियतिरूप पञ्चकञ्चुकों से युक्त होना पड़ता है। इस कञ्चुकरूप आवरण से ग्रस्त हो जाने के कारण पाँच स्वभाव वाला जीव हो जाता है। इस प्रकार जब जीव को इस बात का प्रत्यभिज्ञान हो जाता है। कि शिव एक होते हुए भी पैंतीस तत्त्वों, सात प्रमाताओं तथा चित् आदि पाँच शक्तियों से युक्त है, तभी वह मुक्ति प्राप्त करता है, अन्यथा संसार का हेतु बनता है। अर्थात् माया अपने प्रभाव से पूर्ण चेतन शिव को अंशतः चेतन पशु बनाकर संकुचित बना देती है तथा इन उपर्युक्त (चिदादि) पाँच असीम शक्तियों को भी ससीम बना कर क्रमशः कलादि पाँच तत्त्वों के रूप में अवभासित कर देती है। माया का आवरणात्मक प्रभाव, सर्वव्यापी होने के कारण, किसी भी पक्ष

---

1. ''स चैको द्विरूपस्त्रिमयश्चतुरात्मा सप्तपञ्चकस्वभावः'' (प्र० हृ०, सू०-7)

को अछूता नही रहने देता है, क्योंकि उसी दशा में संसारभाव की चरितार्थता सिद्ध हो सकती है।[1]

साधक साधना के द्वारा अपने आपको तभी शिवरुपा में विश्वासपूर्वक पहचान सकता है, जब उसे अपनी अनिरुद्ध इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों की साक्षात् अनुभूति हो जाए। जब साधक को इस बात का अनुभव हो जाए कि वह जो चाहता है, जो जान सकता है और कर भी सकता है; तभी उसे विश्वास हो सकता है कि वह सचमुच शिव है। इस तरह अपनी शक्ति के साक्षात् दर्शन से ही अपनी शिवता को पहचाना जा सकता है।

शिव, शक्ति से रहित और भिन्न कभी नहीं होती, दोनों परस्पर अभिन्न और एक है तथा समरसरूप हैं और इसी प्रकार शक्ति भी कभी शिव से भिन्न नहीं होती।[2] शक्ति मानो शिव का मुख है।[3] प्रायः मुख की आकृति से ही व्यक्ति को पहचाना जाता है। शिव का सामर्थ्य शक्ति ही है और शिव की शिवता भी वही है। शिव की अनन्त शक्तियाँ हैं। इन्हीं शक्तियों के सामानाधिकरण से ऐश्वर्य की सिद्धि होती है परमशिव की अनन्त शक्तियाँ होने पर भी पाञ्च मुख्य शक्तियाँ चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया मानी गई हैं[4] :-

---

1. "नरा शिवादि-सकलान्त-प्रमातृसप्तकस्वरूपः; चिदानन्देच्छाज्ञान-क्रियाशक्तिरूपत्वेऽपि आख्यातिवशात् कला-विद्या-राग-काल-नियतिकञ्चुकवलित्वात् पञ्चकस्वरूपः। एवं च शिवैकरूपत्वेन, पञ्चत्रिंशत्तत्त्वमयत्वेन, प्रमातृसप्तकस्वभावत्वेन चिदादिशाक्तिपञ्चकात्मकत्वेन च अयं प्रत्यभिज्ञायमानो मुक्तिदः; अन्यथा तु संसार-हेतुः" (प्र० हृ०, टी०-पृ०59)
2. (क) न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।।
   शिवः शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीदृशान्।
   शक्ति शक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते।। (शि० दृ० 3-2, 3)
   (ख) न हिमस्य पृथक् शैत्यं नाग्नेरौष्ण्यं पृथग् भवेत्। (तदेव 3-7)
3. शक्त्यवस्थाप्रविष्टस्य निर्विभागेन भावना।
   तदासौ शिवरूपी स्याच्छैवी मुखमिहोच्यते।।
   यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य च।
   ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवः प्रिये।। (वि० भै० 20, 21)
4. (क) "शक्तयश्च अस्य असंख्येयाः।" (तं० सा०, आह० 4, पृ० 28)
   (ख) "आत्मेव सर्वभावेषु स्फुरन् निर्वृतचिद्विभुः।
   अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः।।" (शि० दृ०, ½)
   (ग) "सा चिदानन्दमात्रात्ममग्रेच्छाज्ञानसत्क्रियाः।
   हृदयं देवदेवस्य भैरवस्याविभागभूः।।" (प० सा०, श्लोक-5)

1. **चित् शक्ति :-** शिव की यह शक्ति प्रकाशस्वरूप के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होती है।[1] इस प्रकाश से वह (शिव) स्वयं सतत प्रकाशित रहता है, उस समय भी जब शून्य ही शून्य होता है अर्थात् जब पदार्थ नामक कोई भी वस्तु नहीं रह जाती है जिसे वह प्रकाशित करे। ''प्रकाश'' अनन्योन्मुख विमर्श ''अहम्'' को कहते हैं।[2]

प्रकाशरूप आत्मा का इच्छास्फुरण विश्व भी प्रकाशरूप ही होता है।[3] चेतना का स्वरूप ही शक्तिरूप है, इसलिए इसे चित् शक्ति कहते हैं।

इसकी तुलना सूर्य के ऐसे प्रकाश से समीकृत की जा सकती है जब कि प्रकाश्य वस्तुओं का सर्वथा अभाव रहता है। केवल स्वप्रकाश मात्र होता है। शिव की स्वयंप्रकाशना, आत्म-चेतनता इसी से होती है। समस्त विश्व भी इसी के प्रकाश से प्रकाशित होता है।[4] इस प्ररूप में वह शिव कहलाती है।

2. **आनन्द शक्ति :-** परमेश्वर का स्वातन्त्र्य ही उसकी आनन्दशक्ति है। उसे किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए चलना तथा प्रयत्न नहीं करना पड़ता। उसका अनन्यमुख स्वातन्त्र्य उसे पूर्ण विश्राम दिये रहता है, इसलिए परमेश्वर (परमशिव) की पूर्ण आह्लादात्मक और मोदात्मक विमर्शरूप स्वातन्त्र्य शक्ति आनन्द-शक्ति कहलाती है।[5] यह सदैव अपने में सर्वथा सन्तुष्ट होने से पूर्ण विश्रान्तियुक्त होती है एवं अन्य की अपेक्षा नहीं रखती।[6] इस प्रकार से चित् और आनन्द महेश्वर का स्वरूप ही है। शेष सब उसकी शक्तियाँ हैं। जैसे हम स्वयं ही बिना प्रयत्न के कोई वस्तु पा जाने पर मोद मानते हैं। उसे किसी वस्तु के पाने में किसी

---

1. "प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः" (त० सा, आह० 1, पृ०-6)
2. "प्रकाशश्च अनन्योन्मुखविमर्शः अहमिति।" (ई० प्र० वि०, 3-1-4)
3. "प्रकाशात्मा प्रकाश्योऽर्थो।" (ई० प्र०, का०-1/34)
4. "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।" (क०ठ०उप०, मुण्ड०उप०)
5. "स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः।" (त० स०, आह०1, पृ० 6)
6. "अन्यनिरपेक्षतैव परमार्थतः आनन्दः।" (ई० प्र० वि०, भा०-1, पृ०-207)

प्रकार की बाधा नहीं है, तो यही उसका आनन्द है। वास्तव में चित् (प्रकाश) और आनन्द (विमर्श) का सामरस्य ही परमसत्ता कही जाती है।[1]

शिव का आनन्द ब्रह्म के आनन्द से सर्वथा विपरीत है। दैनिक जीवन में होने वाला आनन्द ब्रह्म में कहाँ?

3. **इच्छा शक्ति :-** यह सर्वसामर्थ्य सम्पन्न एवं अप्रतिहत शक्ति है। यह सर्जनात्मक स्फुरण है, जिसके द्वारा परमशिव अपने आनन्द के प्रकाशन की इच्छा करता है। परमशिव अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति से, स्वयं अविभक्त रहते हुए भी विश्व को अपने से भिन्न के समान प्रकाशित करता है।[2] इस प्रकार यह सम्पूर्ण विश्व शिव से स्वरूपतः अभिन्न होने के कारण जड़ अथवा अशुद्ध नहीं है। लौकिक दृष्टि से जड़ प्रतीत होने वाले पदार्थ वे हैं जिन में शिव को स्वातन्त्र्य शक्ति का आभासन कम मात्रा में हुआ है।[3] यह आभासन भी परमेश्वर की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का परिणाम है।[4] इस प्रकार शिव अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति से, इस संसार के कुछ पदार्थों को ग्राह्य (जड़) रूप में और कुछ को ग्राहक- (चेतन, पशु, परिमित प्रमाता) रूप में प्रकाशित करता है। इसलिये इसे दैवी चमत्काररूपा भी कहा जाता है।[5] सभी प्रमाता-प्रमाण और प्रमेय रूपों में आत्म-प्रकाशन की इच्छा इसी से सम्भव होती है। परमेश्वर भी विश्वसत्ता की इच्छा इसी इच्छाशक्ति के द्वारा करता है। इसलिए उसमें इच्छाशक्ति की प्रतिष्ठा आवश्यक है। यही परमेश्वर की अन्य चारों शक्तियों में अपना प्रमुख स्थान रखती है।

4. **ज्ञान शक्ति :-** शिव की यह वह सामर्थ्य शक्ति है, जिसके द्वारा अपने प्रति एवं परस्पर दूसरों के प्रति सम्बन्ध का अनुभव होता है अर्थात् ज्ञाता-ज्ञेय

---

1. "चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थावभासिने।" (प्र० हृ०, मं० श्लोक-1)
2. (ई० प्र० वि०, भा० 2, पृ-153, 204)
3. तन्त्रालोक एवं विवेक, 5, 7-8
4. "परमेश्वर एव हि मायीयसर्गं चिकीर्षायां स्वस्वातन्त्र्येण बहिरवभासित भावराशिमध्यात् कांश्चिज्जडानपि प्राणादीन् स्वगताहन्तात्मक कर्तृत्वाभिषेकेण ग्राहकी भावयति, कांश्चिदपि शब्दादीन् इदन्तापात्र तया चिद्रूपतातिक्रमेण ग्राह्यतामापादयति, तेन प्राणादीनाम् जाड्येऽपि परमेश्वर स्वातन्त्र्यादेव चित्वम् इति।" (तन्त्रा० विवेक 5.8, पृ०-323)
5. "तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः।" (तन्त्रा० सा०, आह० 1, पृ०-6)

का ज्ञान होता है। जैसे मोह के कारण जीव आत्मा के विद्यमान होते हुए भी उसका अनुभव नहीं पाता तथा पति की दशा को प्राप्त न कर पशु की दशा को प्राप्त कर लेता है। जैसे- जल के काई से आवृत्त होने पर उसके होते हुए भी उसका ज्ञान नहीं होता। किन्तु जब उसे ज्ञान हो जाता है अर्थात् माया का आवरण हट जाता है, तो वह स्वयं शिव बन जाता है। ज्ञानशक्ति के आविष्कार की आवश्यकता होती है।[1]

इच्छाशक्ति को इसका आधार माना जाता है। इच्छा द्वारा परिणमित आमर्षात्मिकता ही ज्ञान-शक्ति है।[2] पहले किसी बात की इच्छा की जाती है, उसके पश्चात् उसके विषय में जाना जाता है। यह जानना 'ज्ञानशक्ति' कहलाता है। क्रिया-शक्ति इसी पर आधारित है। शिव जब विश्व-सिसृक्षा का आमर्ष करते हैं, तो उनका यह सामर्थ्य ही ज्ञानशक्ति कही जाती है। आमर्ष का अभिप्राय है- 'ईषत्तया वेद्योन्मुखता'!

5. **क्रिया शक्ति :-** प्रत्येक प्रकार का अर्थात् किसी भी प्रकार का रूप धारण करने की एवं प्रत्येक कार्य करने की सामर्थ्य को 'क्रिया शक्ति' कहते हैं।[3] यह समस्त विश्व प्रपञ्च 'क्रिया शक्ति' का ही विकास है।[4] कर्म का स्वारस्य उसके कर्त्ता में है और कर्ता का स्वारस्य पूर्ण स्वातन्त्र्य में। वस्तुतः अप्रतिहत और कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम् के सामर्थ्य के बिना कर्तृत्व की कल्पना कम से कम परम तत्त्व के स्तर पर तो की ही नहीं जा सकती। इस प्रकार चिति शक्ति से नित्यसम्पन्न कर्त्ता ही अपनी क्रियाशक्ति के द्वारा विविध कार्यरूपों में आभासित होने में समर्थ है, तथा उसके प्रसार रोक लेने पर विश्व का विकास भी रुक जाता है।[5] शिव जिस शक्ति द्वारा विश्वात्मक भाव से विविध भावों (पदार्थों)

---

1. "किन्तु मोहवशादस्मिन्दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते।
शकत्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते।।" (ई०प्र० का०, 1/3)
2. "आमर्षात्मकता ज्ञानशक्ति।" (त०स०, आह० 1, पृ० 6)
3. "सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्ति।" (त० स०, आह 1, पृ०-6)
4. "क्रियाशक्तेरेव अयं सर्वो विस्फारः।" (ई० प्र० वि०, भा० 2, पृ० 42)
5. "अस्यां हि प्रसरन्त्यां जगदुन्मिषति व्यवतिष्ठते च, निवृत्तप्रसरायां च निमिषति।"
(प्र० हृ० अ० ला०, पृ०-21)

का पार्थक्य अवभासित करते हैं- वह ''भासना शक्ति'' ही क्रिया शक्ति अभिहित होती है।[1]

परमशिव की ये शक्तियाँ उनकी परा, परापरा, और अपरा, सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहती है और उसका इनसे कभी वियोग नहीं होता है।[2] कहीं-कहीं शिव को ही परम तत्त्व मानकर उसी को चित् शक्ति और उसकी शक्ति को आनन्द कहा गया है।[3]

आचार्य सोमानन्द ने शिवदृष्टि में शक्ति को इच्छा ही का अभिव्यक्त रूप कहा है। त्रिक शास्त्र में तो प्रक्रिया मार्ग की दृष्टि से साधना क्रम के अनुसार शक्तितत्त्व को आनन्दशक्ति ही का रूप माना गया है। वस्तुतः चिद्रूपशिव की आनन्द शक्ति ही उसकी अपने से अभिन्न शिवता है। शिव की अपने से अभिन्न शिवता और वस्तु होती है, और तत्त्व रूपा शक्ति और वस्तु होती है। इसीलिए परमार्थसार में योगराज ने शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और विद्यातत्त्वों को क्रम से चित, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों के रूप में ठहराया है।[4] अनुभवशील सद्गुरू महाराज के उपदेश के अनुसार ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के अन्तर्मुख सामरस्य को इच्छाशक्ति और उन्हीं के बहिर्मुख सामरस्य को विद्याशक्ति कहा गया है।

ये चित्, आनन्द (निर्वृति), इच्छा, ज्ञान और क्रिया नाम की पाँच शक्तियाँ परमेश्वर की अन्तरंग और मुख्य शक्तियाँ होती हैं।[5] इनमें से चित् और आनन्द

---

1. "भासना च क्रियाशक्तिरिति शास्त्रेषु कथ्यते।" (मा० वि० तं०, 1/90)
2. "एवं न जातुचित् तस्य वियोगस्त्रितयात्मना।
   शक्त्या निर्वृतचित्त्वस्य तदभागविभागयोः।।" (शि० दृ०, 1/6,7)
3. (क) "स्वरूपानुप्रविष्टचित्रिर्वृतिरूपशक्तिद्वयः प्रकाशानन्दमयः पूर्णः परमेश्वरः शिवः।" (शि० दृ० वृ० 1-29)
   (ख) तस्य च स्वातन्त्र्यमानन्दशक्तिः। तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः।
   प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः। आमर्षात्मकता ज्ञानशक्तिः।
   सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः। (तं० सा० पृ० 6)
4. (क) "शिवशक्तिसदाशिवतामीश्वरविद्यामयीं च तत्त्वदशाम्।
   शक्तीनां पञ्चानां विभक्तभावेन भासयति।" (प० सा०, 14)
   (ख) "चिदादिशक्तिप्राधान्यप्रथनात्मकशिवशक्तिसदाशिवेश्वरशुद्धविद्याख्यभूमिकोन्मीलनयुक्त्या----।
   (प० सा० टी० 46)
5. शि० दृ०, 1/2

का सामरस्य परमेश्वर का स्वरूप है। इच्छा उसका स्वभाव है और ज्ञानक्रिया उसके स्वभाव का विकास या फल है। अपनी इन्हीं पाँच शक्तियों को अनुग्रह लीला के रूप मे अभिव्यक्त करने के लिए भगवान् 'उमापतिनाथ' (पुराणों और इतिहासों के शिव) ने पाँच मुखों वाले स्वच्छन्दनाथ नामक रूप में प्रकट होकर शैव शास्त्रों का उपदेश किया है।

ये पाँच शक्तियाँ परमेश्वर के भीतर स्वभावतः ही सदैव स्पन्दमान होती रहती हैं। परमेश्वर की इन पाँच शक्तियों में तीन (इच्छा, ज्ञान, क्रिया) को प्रमुख माना गया है। ज्ञान और क्रिया के मध्य में ज्ञान अपने आप सिद्ध है अर्थात् यह जो ज्ञानशक्ति है, यह जीव, पशु सभी में होती है, क्योंकि आत्मा में ज्ञान स्वयंसिद्ध है। क्रिया शरीर से सम्बन्ध रखती हुई दूसरे के द्वारा उपलक्षित होती है। हमारा देखना, करना, जानना यह सभी क्रियाएँ हैं। ज्ञान होने से ही यह क्रियाएँ होती हैं।[1] इस विषय में अभिनवगुप्त जी कहते हैं कि "यदि ज्ञान के साथ क्रिया न हो तो घट तथा शिव में कोई अन्तर नहीं रहता है। यहाँ ज्ञान है, वहाँ क्रिया अवश्य है।"[2] वास्तव में शक्तियों के ये विविध रूप एक ही पराशक्ति के नाना अवस्थाओं में विकसित हुए रूपमात्र हैं- अतः परमार्थतः एक ही शक्ति है।[3] सकल जगत् परमसत्ता की शक्ति का ही स्फुरण अथवा विकास है।[4]

---

1. "तत्र ज्ञानं स्वतःसिद्धं-क्रिया कायाश्रिता सती।
परैरप्युपलक्ष्यते तयान्यज्ञानमूह्यते।।" (ई०प्र०कारिका-1/5)
2. "चित्स्थितिवच्छरीरकरणब्राहेषु" (शिव० सुत्र० 3/39)
3. "ततश्च परमार्थतः एकैव शक्तिः शक्त एवास्तीति प्रतिपादितम्।" (शि० दृ० वृ०, पृ०-17)
4. "स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्" (शि० सू०. 3/30)

(ग) 'पञ्चकृत्य– सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय, अनुग्रह !

परमशिव का यह स्वभाव है कि वह सतत सृष्टि, स्थिति, संहार विलय (तिरोधान) और अनुग्रह पञ्चकृत्यों को करता ही रहता है।[1] 'सृष्टि' से यहाँ अभिप्राय है– 'समग्र भावजात का सर्जन' या स्फुटीकरण'। 'स्थिति' सृष्ट पदार्थों के किंचित्काल स्थायित्व की द्योतक है। 'संहार' से अभिप्राय पुनः अपने में विलीनीकरण जो स्थिति के विनाश अथवा प्रलय द्वारा सम्भव होती है। 'विलय' अथवा 'तिरोधान' उनके लुप्त होने की स्थिति है और 'अनुग्रह' का अर्थ भगवत्कृपा का वितरण या स्वरूपबोध है।[2]

विश्व की पाँच प्रक्रियाएँ ही वस्तुतः शिव के इस पञ्चकृत्य की आधार हैं। आगमसम्मत आत्मा सदैव पञ्चकृत्यकारी है। प्रथम चार कृत्य विश्व-प्रक्रिया के चार पक्षों का निरूपण करते हैं। परमसत्ता स्वतः अपने बाहर विश्व को अभिव्यक्त करती है।[3] अभिव्यक्ति के पश्चात् पुनः अपने में ही उसे समेट लेती है, जिससे कि विलय अथवा सार्वभौम विश्रन्ति की अवधि के उपरान्त उसे वह पुनः प्रकट कर सके। स्वरूपावबोध भगवदनुग्रह से ही सम्भव है अर्थात् सब वस्तुओं को अभेद रूप में देखना ही अनुग्रह है।

'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में क्षेमराज इस ओर भी निर्देश करते हैं कि परिमितावस्था पशु में भी वह इन पाँचों क्रियाओं को परिमित क्षेत्र एवं रूप में उस सीमा तक प्रदर्शित करता है, जब तक व्यक्ति का शिवत्व स्थिर रहता है अर्थात् जीव चाहे शिव का संकुचित रूप है, किन्तु उसमें भी यह पञ्चकृत्य रहते हैं। परमेश्वर की चित् आदि अनन्त शक्ति-प्रचय विभाजन की भाँति उसके अनन्त पञ्चकृत्यों का महानाटक चला करता है, जिसका वह स्वयं नायक है।[4] इस विश्व की सृष्टि ही उसका मनोरंजन है। इसकी स्थिति में वह सुख का अनुभव करता है तथा इसकी संहृति में ही उसे "तृप्ति" मिलती है।[5]

---

1. "नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्याभिधायिने" (प्र० हृ०, मं० श्लो०-1)
2. "पञ्चविधं तत्कृत्यं सृष्टिस्थितिसंहारतिरोभावः।
तद्वदनुग्रहकरणं प्रोक्तं सततोदितस्यास्य।।" (स० द० सं०)
3. "स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।।" (प्र० हृ०, सू०-2)
4. "पञ्चकृत्यमहानाट्यरसिकः क्रीडति प्रभुः।" (बो० पं०, पृ० 602)
5. "सदा सृष्टिविनोदाय सदा स्थितिसुखासिने।
सदा त्रिभुवनाहारतृप्ताय भवते नमः।।" (शि० स्तो० 9, श्लो०-20)

जब इस आत्मा की शक्ति संकुचित हो जाती है, तब वह मलावृत संसारी कहलाता है। जब परमेश्वर जो चित्स्वरूप है अपने शिवत्व को छोड़कर जीव भाव का अवलम्बन करता है, तब उसकी इच्छा तथा अन्य शक्तियाँ स्वतः असंकुचित होते हुए भी संकुचित जैसी लगने लग जाती हैं, तब यह जीव मल से ढका हुआ संसारी बन जाता है।[1] अब प्रश्न यह है कि जीव संसारी की अवस्था में रहता है तो क्या उस अवस्था में शिवत्व के अनुरूप कोई ऐसी पहचान है जिससे यह जाना जा सके कि शिव ही इस प्रकार से अर्थात् संसारी की दशा में अवस्थित है? तो कहते हैं कि संसारी की दशा में भी जीव उस (शिव) के समान पाँच कृत्य करता है।[2] श्री स्वच्छन्दशास्त्र के अनुसार चिदात्मा भगवान् (शिव) सदैव पञ्चकृत्य के विधायक हैं। ईश्वराद्वयदर्शन का ब्रह्मवादियों से यह भेद है कि चित्स्वरूप भगवान् का श्रीमत् स्वच्छन्द इत्यादि शास्त्र में कहे हुए ढ़ंग के अनुसार सदा पाँच प्रकार का कृत्य चलता रहता है, "सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय तथा अनुग्रह के कर्त्ता भगवान् (शिव) अपने भक्तों के दुःखों के विनाशक हैं।[3] जिस प्रकार भगवान् "अशुद्ध अध्वा" में विस्तारक्रम से अपने स्वरूप का विकास रूप सृष्टि इत्यादि करते हैं, वैसे ही संकुचित चित् शक्ति से संसार दशा में भी वह पञ्चकृत्य करते हैं।

परमशिव पराप्रमाता, सर्वोच्च एवं पूर्णाहम् रूप है, जो सभी वस्तुओं को अपने में समाहित किए हुए है। वह सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह रूप पंच कार्यों को सतत करता रहता है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार परमशिव के विकास और संकोच से सृष्टि और संहार होता है।

1. **सृष्टि–** अपने अन्तःस्थिति को शिव जब बाहर अवभासित करता है तो वह सृष्टि है। कहने का तात्पर्य यह है कि बहिर्मुखीभाव के अवसर पर जब चिद्रूप महेश्वर नीलादि अन्तःस्थित विषयों को नियत, देश, काल और आकारादि

---

1. "चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचात् मलावृतः संसारी।।" (प्र०हृ०, सू०–9)
2. "तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति।।" (प्र० हृ०, सू०–10)
3. "सृष्टिसंहारकर्तारं विलयस्थितिकारकम्।
अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम्।।" (स्व० तं०, श्लो०3)

के रूप में अवभासित करते हैं, तब वह नियत, देश, काल आदि में जो अवभासित होता है- वह उनकी सृष्टि क्रिया कहलाती है। जिस प्रकार एक योगी अपनी इच्छा से कुछ भी कर लेता है, उसी प्रकार वह (शिव) अपनी इच्छा को बाहर अवभासित करता है। इसमें अव्यक्त को व्यक्त किया जाता है, न कि कोई नवीन वस्तु उत्पन्न की जाती है।[1]

2. **स्थिति**— उस नीलादि सुख समूह के आभास का बना रहना, उसकी स्थिति क्रिया कहलाती है अर्थात् विद्यमान को स्थिर करना स्थिति क्रिया है।[2]

3. **संहार**— विषयों का अन्य देश और काल में आभासित होना उनकी संहार क्रिया है अर्थात् व्यक्त को अव्यक्त रूप में ले जाना संहार क्रिया है, न कि किसी वस्तु का सर्वथा विनाश करना।[3]

4. **विलय**— यह जो नील, सुखादि हैं इनको नाना रूपों में अवभासित होना विलय है अर्थात् भेद रूप होना उनकी विलय क्रिया है। अपने पूर्णस्वरूप को छिपाकर मायावश अपूर्णस्वरूप (जीव, बद्ध, अणुरूप) समझना एवं जगत् को अपने को पृथक् रूप में जानना- उनकी तिरोधान क्रिया है।[4]

5. **अनुग्रह**— विषयों का चित्प्रकाश के साथ तादात्म्य से स्फुरित होना, परमसत्ता की अनुग्रह क्रिया कहलाती है। तात्पर्य यह है कि गुरू, शास्त्र अथवा स्वयं द्वारा शक्तिपात करके स्वस्वरूप का प्रत्यभिज्ञान कराकर शिव रूप में अवस्थित होना उनकी अनुग्रह क्रिया कहलाती है।[5]

---

1. "चिद्रूपो महेश्वरो बहिर्मुखीभावावसरे नीलादिकमर्थं नियतदेशकालादितया यदा आभासयति, तदा नियतदेशकालाद्याभासांशे अस्य स्रष्टता।" (प्र० हृ०, पृ०-51, 52)
2. "नीलाद्याभासांशे स्थापकता।" (प्र० हृ०, पृ० 52)
3. "अन्यदेशकालाद्याभासांशे अस्य संहर्तृता।" (प्र० हृ०, पृ०-52)
4. "भेदेन आभासांशे विलयकारिता।" (प्र० हृ०, पृ०-52)
5. "प्रकाशैक्येन प्रकाशने अनुग्रहीतृता।" (प्र० हृ०, पृ०-52)

सृष्टि आदि पचकृत्यकारिका का केवल यही स्वरूप नहीं है, प्रत्युत् एक दूसरा रहस्यमय स्वरूप भी है। जीवदशा में भी उनका पञ्चकृत्यों का कार्य प्रकाशन, आस्वादन, आत्मबोध, बीजावस्थापन और विलयन भेद से सतत चलता रहता है।[1] यह जीवरूपता (पशुभाव) चित्स्वरूपवत् शक्ति संकोच के कारण मल (अज्ञान) से आवृत होने के कारण होती है।[2] जोकि अपने वास्तविक स्वरूप का अज्ञान ही होता है।[3] अज्ञान वश ही लोग शंका में पड़ जाते हैं, और यही सृष्टि एवं संहार का मूल है।[4]

विश्व का विकास पञ्चकृत्य प्रक्रिया के द्वारा होता है अतः इस पञ्चकृत्य का ज्ञान अतीव आवश्यक है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या यह पञ्चकृत्य-ज्ञान संसारी अवस्था में भी विद्यमान रहता है। यद्यपि परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य से ही जब अभेदव्याप्ति को छोड़कर भेदव्याप्ति का समाश्रयण करता है, तो उसकी इच्छादि शक्तियाँ संकुचित हो जाती है और वह आणव, कार्म और मायीयमल से आवृत होकर संसारी हो जाता है। किन्तु उस अवस्था में भी शिवतोचित अभिमान रहता है, अतः इस स्थिति में भी वह उसी प्रकार पञ्चकृत्य करता रहता है। महार्थदृष्टि से नेत्रेन्द्रिय इत्यादि देवियों के प्रसरण क्रम से अर्थात् भिन्न भिन्न इन्द्रियों के कार्य के द्वारा जो कुछ प्रकाशित होता है वह सृष्टि है! यह 'आभासन' वा 'प्रकाशन' ही "सृष्टि" है। सृष्टि हो जाने पर अर्थात् किसी पदार्थ के प्रकाशन हो जाने पर बिना आँख बन्द किये हुए कुछ काल तक जब जीव उसमें आस्वादन वा आनन्द लेता है, तब स्थिति देवी द्वारा वह (अनुभव में) स्थापित किया जाता है यही "स्थिति" है। 'विमर्शन' जिसकी दूसरी संज्ञा चमत्कार है- के समय उस पदार्थ का संहार होता है अर्थात् पदार्थ की यह अनुभूति "संहार" है।[4]

---

1. "आभासनरक्तिविमर्शबीजावस्थापनविलापनतस्तानि।" (प्र० हृ०, सू०-11)
2. "चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचात् मलावृतः संसारी" (तदेव, सू०-9)
3. "तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितता संसारित्वम्" (तदेव, सू०-12)
4. "अज्ञानाच्छङ्कते लोकस्ततः सृष्टिश्च संहृतिः।" (वी० भट्ट०, पृ० 57)

वस्तुतः यह सृष्टि प्रक्रिया प्रतिक्षण जन-जन के मस्तिष्क में पृथकरूपेण चला करती है। इसलिए इस विश्व की व्यक्तिगत अनुभूति को "प्रातिस्विक" कहते हैं, जिसका अर्थ होना है "प्रत्येक मनुष्य की अपनी"। किन्तु इस प्रकार की पञ्चविधकृत्यकारिता का ज्ञान सबको नहीं हो पाता अर्थात् पञ्चकृत्य कर्तृत्व सबके हृदय में सदैव विद्यमान रहते हुए भी सद्गुरू के उपदेश के बिना प्रकाशित नहीं होता है।[1] सद्गुरू के उपदेश के बिना जिसको उक्त पञ्चकृत्य के कृर्तत्व परिज्ञान नहीं होता, वह अपनी शक्तियों द्वारा ही विमोह में पड़ जाता है, क्योंकि उन (शक्तियों) का स्वरूप उसके लिए स्पष्ट नहीं रहता। इस तरह संसारी होने का अभिप्राय है– उक्त परिज्ञान के अभाव में अपनी ही शक्तियों द्वारा मोह में पड़ जाना।[2] कहने का अभिप्राय यह है कि संसारी अवस्था में भी अपनी शक्तियों या अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान उसे ही रहता है, जिस पर गुरु चरणों की कृपा हो जाती है।

अतः अपने परमार्थिक स्वरूप के पूर्ण ज्ञान की अवस्था में (व्यक्तिगत संवित्) "चित्त" ही अन्तर्मुखीभाव से चेतनपद पर पहुँचे जाने से "चिति" हो जाता है।[3] इस चिति के विकास से ही जगत् का उदय, स्थिति और प्रसरण समाप्ति पर संहार हो जाता है।[4] अतः सब कुछ शिवशक्ति स्वरूप ही है अर्थात् समस्त भुवन-भाव, प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय, बन्ध-मोक्ष, शिव प्रभृति धरणिपर्यन्त तत्त्व इत्यादि सभी एक परमसत्ता के ही विकास है।[5] परमसत्ता अभेदभूमि से भेदाभेद और पुनः भेद भूमिका में अवरोह क्रम से विश्व का अवभासन करती हैं।[6]

---

1. "पञ्चविधकृत्यानि करोति' इति पूर्वतः संबध्यते। श्रीमन्महार्थदृष्ट्या दगादिदेवीप्रसरवक्रमेण यत् यत् आभाति, तत् तत् सृज्यते; तथा सृष्टे पदे तत्र यदा प्रशान्तनिमेषं कंचित् कालं रज्यति, तथा स्थितिदेव्या तत् स्थाप्यते; चमत्कारापरपर्यायविमर्शनसमये संहियते।" (प्र० हृ०– पृ०–69)
2. "ईदृश च पञ्चविधकृत्यकारित्वं सर्वस्य सदा सन्निहितमपि सद्गुरूपदेशं बिना न प्रकाशत इति सद्गुरूसपर्यैव एतत्प्रथार्थमनुसर्तव्या।" (पृ० हृ० अ० ला०, 55)
3. "तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितता संसारित्वम्।।" (प्र० हृ०, सू०–13)
4. "अस्या हि (चितिभगवत्याः) प्रसरन्त्यां जगत् उन्मिषति ब्यवतिष्ठते च, निवृत्तप्रसरायां च निमिषति।।" (प्र० हृ०, पृ०–44)
5. स्वस्मिन्कार्येऽथ धर्मौद्ये यद्वापि स्वदृग्गुणे।
   आस्ते सामान्यकल्पेन तननाद्व्याप्तुभावतः।।" (त० आ०, आह० 9, 4-5)
6. स्प० नि०, पृ०--14

इस प्रकार अपने भीतर जो पाँच प्रकार का कृत्य चलता रहता है, यदि अच्छी तरह समझ कर उसका परिशीलन किया जाए, तो वह भक्तजनों के निकट प्रभु के महान् ऐश्वर्य को व्यक्त कर देता है अर्थात् माहेश्वर्य का आभास करा देता है। अतएव जो सदा इसका परिशीलन करते हैं, वे विश्व को चित् का विकास समझ कर जीवन्मुक्त हो जाते हैं। क्योंकि वे विश्व को अपने ही रूप का विकास समझते हैं। जो इस प्रकार परिशीलन नहीं करते, वे सब ज्ञेय विषयों को भिन्न समझते हुए बन्धन में ही पड़े रहते हैं अर्थात् उनकी आत्मा सदैव ही बद्ध रहती है।[1]

---

1. "एवमिदं पञ्चविधकृत्यकारित्वम् आत्मीयं सदा दृढप्रतिपत्या परिशील्यमानं माहेश्वर्यम् उन्मीलयत्येव भक्तिभाजाम्। अत एव ये सदा एतत् परिशीलयन्ति, ते स्वरूपविकासमयं विश्वं जानाना जीवन्मुक्ता–इत्याम्नाताः। ये तु न तथा, ते सर्वतो विभिन्न मेयजातं पश्यन्तो बद्धात्मानः।" (प्र० हृ०–प०–68)

तृतीय अध्याय

चितिशक्ति और विश्व

(क) प्रमेय- शिवादि पृथिवी पर्यन्त छत्तीस तत्त्व

(ख) प्रमाता- शिवादि सकल पर्यन्त सप्त-प्रमाता

(क) शिवादि पृथिवी पर्यन्त छत्तीस तत्त्व

मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। चिन्तन की इन्हीं धाराओं को विभिन्न दर्शनों का नाम दिया गया है। भारतीय दर्शनों को मुख्यरूप से दो भागों में बांटा गया है–

1. आस्तिक दर्शन

2. नास्तिक दर्शन

आस्तिक दर्शन का अर्थ है– जो ईश्वर व वेद को मानता हो और नास्तिक दर्शन का अर्थ है– जो ईश्वर को न मानता हो और वेदविरोधी हो, जैसे– "नास्तिको वेदनिन्दकः"। आस्तिक दर्शन छः माने गए हैं– न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त व मीमांसा। नास्तिक दर्शन तीन हैं– चार्वाक, बौद्ध व जैन।

भारतीय दर्शनों का एक अन्य वर्ग तान्त्रिक दर्शनों का है। दक्षिण भारत के प्राचीन पाशुपत दर्शन, शैवसिद्धान्त और शिवद्धैताद्वैत दर्शन मूलतः तान्त्रिक दर्शन हैं, क्योंकि आगम शास्त्र तथा आगमिक सन्तों के भजन और उपदेश ही इन दर्शनों के प्रेरणास्त्रोत रहे हैं। फिर भी इन तान्त्रिक दर्शनों को भी प्रायः वैदिक दर्शनों के वर्ग में ही रखा गया है, क्योंकि तान्त्रिक दर्शनों के कई आचार्यों ने वेदों और तान्त्रिक आगमों को समान रूप से प्रमाण माना है। काश्मीर में शैव दर्शन की धारा को अद्वैतशैव अथवा काश्मीर शैव दर्शन से अभिहित किया जाता है। इस दर्शन के अनुसार भी वेदोक्त वर्णाश्रम-धर्म और कर्मकलाप धर्म ही जनसाधारण के लिए सर्वोत्तम धर्म है। इस प्रकार यह दर्शन वैदिक धर्म का विरोधी न होकर उसका परिपोषक है।

काश्मीर अद्वैत दर्शन में 36 तत्त्वों का विवरण मिलता है। काश्मीर शैव दर्शन मूलतः अद्धैतवादी दर्शन है, अतः इसका मूल तत्त्व भी एक ही 'परमशिव' है। परमशिव ही अपनी इच्छा से 36 तत्त्वों के रूप में प्रतिभासित होता है, जिसे सामान्यजन जगत् के रूप में पहचानते हैं। पुनः ये 36 तत्त्व अपने-अपने कारण में लीन होकर अन्त में केवल 'परमशिव' ही रह जाता है। इन 36 तत्त्वों में

से प्रथम ग्यारह तत्त्व काश्मीर शैव दर्शन के अपने मौलिक तत्त्व हैं, जबकि प्रकृति से लेकर पृथ्वी पर्यन्त शेष 25 तत्त्व सांख्य दर्शन से मिलते जुलते हैं। परमशिव विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय रूप है। विश्वमय रूप में अपने को अभिव्यक्त करने के लिये वे प्रमाता एवं प्रमेय रूपों में अवभासित करते हैं। ये प्रमाताशिव से लेकर सकल पर्यन्त सात हैं एवं प्रमेय तत्त्व शिवतत्त्व से लेकर पृथिवी पर्यन्त छत्तीस हैं, जो इस प्रकार हैं–

1. शिव तत्त्व	13. प्रकृति तत्त्व	25. पायु तत्त्व
2. शक्ति तत्त्व	14. महत् तत्त्व	26. उपस्थ तत्त्व
3. सदाशिव तत्त्व	15. अहंकार तत्त्व	27. शब्द तत्त्व
4. ईश्वर तत्त्व	16. मन तत्त्व	28. स्पर्श तत्त्व
5. सद्विद्या तत्त्व	17. श्रोत्र तत्त्व	29. रूप तत्त्व
6. माया तत्त्व	18. त्वक् तत्त्व	30. रस तत्त्व
7. कला तत्त्व	19 चक्षु तत्त्व	31. गन्ध तत्त्व
8. विद्या तत्त्व	20. रसना तत्त्व	32. आकाश तत्त्व
9. राग तत्त्व	21. घ्राण तत्त्व	33. वायु तत्त्व
10. काल तत्त्व	22. वाक् तत्त्व	34. अग्नि तत्त्व
11. नियति तत्त्व	23. पाणि तत्त्व	35. जल तत्त्व
12. पुरुष तत्त्व	24. पाद तत्त्व	36. पृथ्वी तत्त्व

1. **शिवतत्त्व**– काश्मीर शैवदर्शन के 36 तत्त्वों में से प्रथम तत्त्व 'शिवतत्त्व' है। स्वतन्त्र चिद्‌धन संवित् स्वभाव परमशिव जब अपनी स्वातन्त्रय शक्ति से पारमार्थिक कार्य-कारणभाव से अपने अन्तर्गत अखिल विश्व को अवभासित करने की इच्छा करता है, तब उसके विश्वोन्मीलन की उस अवस्था को ही 'शिवतत्त्व' कहते हैं[1] उस अवस्था का पर्याय अनाश्रित शिव है।[2] तन्त्रसार के अनुसार पञ्चशक्ति स्वभाव परमशिव में चित् शक्ति का प्राधान्य होने पर वह 'शिवतत्त्व' कहलाता है।[3] शिवतत्त्व शिव और शक्ति का अद्वयरूप है। शक्ति रहित शिव 'शव' है। शिव में 'इकार' शक्ति का वाचक है– "इकारः शक्तिः"। अतः शिव के बिना शक्ति का अस्तित्व नहीं है।

विश्व का निषेध हो जाने से शिवतत्त्व प्रकाशमात्र ही होता है। परमशिव अपनी इच्छा से जगत् के सर्जन के लिए स्पन्दमान होता है, तो उसका आद्यस्पन्द 'शिवतत्त्व' कहलाता है। परमेश्वर समस्त विश्वरूपी वृक्ष का बीज है। उस बीजात्मक परमेश्वर में उसी के स्वभावभूत स्वातन्त्रय के विलास से जब स्पन्दन होता है, तो पहले प्रकाशमान् शिवतत्त्व का और विमर्श प्रधान शक्तितत्त्व का आविर्भाव हो जाता है। इन दो तत्त्वों में परमशिव की चित् शक्ति और आनन्दशक्ति अभिव्यक्त हो जाती है।[4] प्रत्येक जीव में रहने वाला शिवतत्त्व ही आत्मतत्त्व है।[5]

शिवतत्त्व दशा का अधिष्ठाता 'भट्टारक शिव' होता है। और इस अभेद भूमि में "शाम्भव" प्रमाता अवस्थित होते हैं। शिव की भाँति ही इन्हें "अहं+इदं" पूर्णाभेद की प्रतीति होती है और किसी भी प्रकार के मल राहित्य से इन्हें "अकल"

---

1. "यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाखिलमिदं जगत्स्रष्टुम।
   पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः" (षट्० त्रिं० त० सं०, का 1, पृ० 1)
2. "श्रीपरमशिवः स्वात्मैक्येन स्थितं विश्वं सदाशिवाद्युचित्तेन रूपेण अवविभासयिषु पूर्वं चिदैक्यारव्यातिमयानाश्रितशिवपर्यायशून्यातिशून्यात्मतया प्रकाशाभेदेन प्रकाशमानतया स्फुरति।" (प्र० ह०, पृ० 51)
3. "चित्प्रधाने शिवतत्त्वम्" (तं० सा०, पृ० 74)
4. (क) "स्वरूपानुप्रविष्ट चिन्निर्वृतिरूप शक्तिद्वयः।
   प्रकाशानन्दमयः पूर्णपरमेश्वरः शिवः।।" (शि० दृ० वृ० 1/26)
   (ख) "आत्मैवसर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः।
   अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः।। (शि० दृ० 1-2)
5. "चैतन्यमात्मा"। (शिव सू०, 1/1)

भी कहा जाता है। इनका अनुभव भी शुद्ध "अहं" मात्र होता है। जिस प्रकार शिवतत्त्व में शुद्ध "अहं" रूप होता है[1], जिसमें "अस्मि" की अनुभूति नहीं होती है। यह आभास पूर्णत्या अभेद भूमि का आभास होता है।[2] ईश्वरता, कर्तृता, स्वतन्त्रता, चिरस्वरूपता, "पूर्णअहंता" के पर्याय हैं।

2. **शक्तितत्त्व**– वास्तव में शिव और शक्ति तत्त्व नित्य और अभिन्न होते हैं, अतः इनकी अभिव्यक्ति शाश्वत एक साथ रहती है। केवल औपचारिकतावश शक्ति तत्त्व को दूसरा तत्त्व कहा जाता है। शक्तितत्त्व में महेश्वर के आनन्द का प्राधान्य है।[3] इस तत्त्व के कारण ही शिव तत्त्व अभिव्यक्त होता है। वास्तव में सभी तत्त्व परमसत्ता के शक्तिरूप स्पन्द ही है।[4] यदि शिव में विमर्श शक्ति न हो, तो वह "अनीश्वर" तथा जड़ हो जायेगें। शिव ही अपने हृदय के इच्छा-ज्ञान-क्रियारूपी त्रिकोण के माधर्यु से परिवर्धिन उल्लास द्वारा अपने में ही स्थित विश्व को ईक्षण करने के लिए उन्मुख होने पर शक्ति स्वभाव वाला कहलाता है।[5] शिव और शक्ति तत्त्व कदापि पृथक् नहीं रह सकते। वे सृष्टि और संसार दोनो मे संयुक्त रहते हैं– शिव ईक्षित के रूप में और शक्ति आनन्द के रूप में। वस्तुतः शिव और शक्ति तत्त्व आभासमात्र हैं, अपितु समस्त आभासों का बीज हैं। सम्भवतया शंकराचार्य और श्रीकृष्ण इसी को लक्षित करके क्रमशः प्रकृति को ब्रह्म और अपना मूलाश्रय बतलाया है।[6] जिस प्रकार चेतना सत्ता की पूर्वकल्पना करती है, इसी प्रकार शक्तितत्त्व की पूर्वकल्पना शिवतत्त्व द्वारा होती है। तन्त्रालोक के अनुसार ब्राह्योन्मुख्व परमशिव की उन्मुखतारूप क्रिया ही शक्ति तत्त्व है।[7] अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति के समान शिव तथा शक्ति में नित्य तादात्म्य बना

---

1. "अनन्योन्मुखः----अहंप्रत्यय----।।" (ई० प्र० वि०, भा०2, पृ० 196)
2. "शक्तिश्च शक्तिमद्रुपादव्यतिरेकं न वाञ्छति।
   तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव।।" (बो० पं०, श्लो० 3)
3. "आनन्दोच्छलिताशक्तिः सृजत्यामानमात्मना।।" (शि० स्तो० टी० 'उत्पल्देव')
4. "सर्वाणि हि तत्त्वाणि भगवतः शक्तिरूपाणि स्पन्द एव।।" (ई० प्र० वि०, भा०-3, पृ० 265)
5. "स एव विश्वमेषतु ज्ञातुं कर्तुं चोन्मुखोभवेत्।
   शक्तिस्वभावः कथितो हृदयत्रिकोणमधुमांसलोल्लासः।।" (महा० मं०, पृ० 40)
6. "मम योनिर्महद्ब्रह्म।" (भ० गी०, 14/3)
7. "तस्य। परमशिव। बहिरौन्मुख्येन व्यापारः शक्तितत्त्वम्" (तं० आ० भा० 6, पृ० 50-51)

रहता है।[1] वास्तव मे चिद्रुपता का उन्मेष अन्तर्मुख होना है और उसका निषेध ही बहिर्मुख होना है। क्योंकि परमशिव सभी में है और सब उसी में विद्यमान हैं, अतः उसके विषय में बाहर और भीतर होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

महेश्वरानन्द अनुसार यह शक्तितत्त्व तभी अभिहित होता है, जब शिव अपने हृदय में स्थित अर्थतत्त्व को अभिव्यक्त करने के लिए उन्मुख होता है। यह शिव की सर्जनोन्मुखता "अहं-विमर्श" रूप है। अतः इसके परप्रमाता का अनुभव "अहमस्मि" होता है। वस्तुतः उक्त दोनों तत्त्व एक ही हैं।[2] इसका कारण यह है कि शक्ति के कारण ही शिव को अपना बोध होता है।

शक्तितत्त्व की अधिष्ठात्रा शक्ति होती है और इस अवस्था के प्रमाता 'शाक्त' कहे जाते हैं। ये भी मलरहित अकल प्राणी होते हैं। अतः प्रकाशत्व शिव का विमर्श स्वरूप ही शक्तितत्त्व है।

3. **सदाशिव तत्त्व**— अपनी इच्छाशक्ति से अवभासित जगत् को व्याप्त कर रहने वाला, समस्त प्राणी मात्र के प्रति अनुग्रह करने वाला परमशिव का ही रूप सदाशिव कहलाता है। शिव और शक्ति तत्त्व के सतत आभासमान होने के कारण वास्तव में यह प्रथम सृष्टि होती है, जिसमें सत् का ज्ञान होता है— अतः इसे सादाख्य तत्त्व भी कहते हैं।[3]

इस दशा के अधिष्ठाता 'भट्टारक सदाशिव' होते हैं तथा "अहं-इदं" की अनुभूति होती है। "अहं" शिव का द्योतक है तथा "इदं" विश्व का। अर्थात् इस में प्राधान्य तो अहं का ही होता है किन्तु वह अस्फुट "इदं" को अपना ही अंश समझता है। अतः जगत् का अव्यक्त रूपेन भान होता है। जैसे किसी कलाकार के मन में चित्र निर्माण के पूर्व चित्र की कल्पनामात्र रहती है वैसे

---

1. "न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरकिणी
   न हिमस्य पृथक् शैत्यं नाग्नेरौष्ण्यं पृथग्भवेत्।।" (शि०दृ०-3/2)
2. "शिवशक्तिद्वैधं प्रकाशविमर्शस्वरूपं परमार्थन एकमेव तत्त्वं प्रकटीभवेत्।" (वि० भै० वि०, पृ० 22)
3. "सृष्टिक्रमोपदेशादो प्रथममुचितं तत्सादाख्यं तत्त्वम्" (ई० प्र० वि०, भा० 2, पृ० 191)

ही सदाशिव स्थिति मे अनुभव का "इदं" अंश धुंधले विचार के रूप में रहता है।[1] इनमे कोई मल नहीं होता, परन्तु विश्व अस्फुट रूप से भासित होने के कारण पूर्णतः निर्मल भी नहीं होते। भेद उन्मुख होने लगता है। अतः शुद्धाशुद्ध प्रमाता मन्त्रमहेश्वर कहलाते हैं, जिन्हें विश्व भेदाभेद दृष्टि से प्रकाशित होता है।

सदाशिव में इच्छा का प्राधान्य है। जब शक्ति में उन्मेष होता है तब सृष्टि होती है और जब निमेष होता है संसार का लय होता है। इसी उन्मेष के कारण "सदाशिव" तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। अभिव्यक्ति के लिए एक विषयी और एक विषय की परम आवश्यकता होती है। सदाशिव तत्त्व में दोनों हैं। "अहं" में चेतना की प्रमुखता होती है।

सदाशिव तत्त्व भेदाभेद की भूमि को व्यक्त करता है। कुछ अस्फुट रेखाओं से उन्मीलित चित्र की भाँति सदाशिवतत्त्व है, जिसमें विश्वरूपी चित्र का प्राथमिक आभास तो है किन्तु वह उकरा "अंकित" हुआ नहीं है। इसलिए इसे सादाख्य तत्त्व भी कहा गया है।[2] जगत् का प्रलय इसी अवस्था में आकर पूर्ण हो जाता है इसलिए आगमों में इसे अन्तः निमेष कहा गया है।

4. **ईश्वरतत्त्व–** जिस प्रकार शिव की इच्छा का अन्तर्मुख स्पन्द सदाशिव तत्त्व कहलाता है, उसी प्रकार उसके बहिर्मुख स्पन्द को "ईश्वरतत्त्व" कहते हैं।[3] 'इदम्' अंश के प्रधान होने पर समस्त विश्वरूप में दिखाई देता हुआ "परमशिव" ही "ईश्वरतत्त्व" की दशा को प्राप्त करता है।

इसमें इदन्ता का अंश भी अधिक स्फुट रूप से प्रकाशित होता है। "अहम्" अंश गौण रहता है और "इदम्" अंश की और ज्ञानशक्ति की प्रधानता रहती है।[4] जैसे चित्रकार के मन में प्रदर्श्य चित्र की पहले एक धुंधली सी रूपरेखा

---

1. "तत्र प्रोन्मीलितमात्रचित्रकल्पतया इदमंशस्य अस्फुटत्वात् इच्छाप्राधान्यम्।।" (ष० त्रिं० त०, पृ०-3)
2. "यतः प्रभृति सदिति प्रख्या, सदाख्यायाश्चसदाशिवशब्दरूपाया इदं वाच्यं तत्त्वम्। तत्सादाख्यं तत्त्वम्।" (ई० प्र० वि० वि०, भा० 2, पृ० 195)
3. "ईश्वरो बहिरून्मेष।।" (ई० प्र० का०, 3/3)
5. "ज्ञानशक्ति प्राधान्ये ईश्वरतत्त्वम्" (तं० स०, पृ० 74)

होती है, फिर चित्र निर्माण करते समय उसका अधिक स्पष्ट रूप सामने आने लगता है, वैसे ही सदाशिव की अवस्था में ब्रह्माण्ड का एक धुंधला विचार होता है किन्तु ईश्वर की स्थिति में सृष्टि रचना का विचार स्पष्ट हो जाता है।

ईश्वरतत्त्व के प्रमाता "मन्त्रेश्वर" कहलाते हैं, जिनमें कोई मल नहीं होता। इनकी समलता इतनी ही होती है कि इनमें भेद का बीज अंकुरित-सा होने लगता है। सदाशिव में जो विश्व अभी अंकुरित हुआ था वही ईश्वर तत्त्व में स्पष्ट रूप में आने लगता है। राजानक आनन्द अनुसार प्रमेय समूह अधिक स्फुट होने में इसमें ज्ञान शक्ति का प्राधान्य रहता है।[1] इसकी अनुभूति का स्वरूप "इदं-अहं" होता है।[2] भट्टारक ईश्वर उसके अधिष्ठाता होते हैं, जो माया से अतीत होते हैं एवं परमेश्वर के लीलावश अवतारस्वरूप होते हैं।

वेदान्त का ईश्वर प्रकृति के साथ सम्बन्ध रखते हुए सगुण रूपों में ब्रह्म, विष्णु एवं रूद्र बनकर प्रकट होता है। किन्तु शैवदर्शन में ईश्वर भट्टारक को माया भी स्पर्श नहीं करती और उसका स्वरूप अशरीर ही होता है।

5. **सद्विद्यातत्त्व**– "अहं" और "इदं" की समान प्रतीति ही सद्विद्यातत्त्व है। इसमें दोनों परामर्श समाधृत तुल्य के पलड़ों के समान एक बराबर होते हैं।[3] उपर्युक्त शिव से लेकर सद्विद्या पर्यन्त पाँच तत्त्व परमशिव की अभिव्यक्ति मात्र हैं। यहाँ तक महेश्वर का स्वरूप गोपन नहीं होता। इस स्तर पर क्रियाशक्ति की प्रधानता होती है।[4] यहाँ विषयीमूलक और विषयमूलक चेतना की बराबर अभिव्यक्ति होती है।

यहाँ अनन्त भट्टारक अधिष्ठाता होते हैं और प्रमाता 'मन्त्र' कहलाते हैं। इनका परामर्श "अहमिदमस्मि" होता है, जो परापर शुद्ध[5] दृष्टि वाला होने से "शुद्ध

---

1. "अत्र वेद्यजातस्य स्फुटावभासनात् ज्ञानशक्त्युद्रेकः" (षट्० त्रिं० त० सं०, पृ० 4)
2. "भावराशौ पुनः स्फुटीभूते तदधिकरणे एवेदमंशे यदाहमशं निषिञ्चति तदा ज्ञानशक्तिप्रधानमीश्वरतत्त्वम् इदमहमिति।" (त० आ० वि०, भा० 6, पृ० 50)
3. "सामानाधिकरण्यं च सद्विद्याहमिदं धियो।।" (ई० प्र० का०, 3/3)
4. "क्रियाशक्ति प्राधान्ये विद्या तत्वम्।।" (तं० सा० आह० 8, पृ० 74)
5. "अत्रापरत्वं भावानामनात्मत्वेन भासनात्।
परताहन्तयाच्छादात्परापरदशा हि सा।।" (ई० प्र० का०, 3/5)

विद्या" तत्त्व भी अभिहित होता है।[1] यद्यपि दोनो परामर्श एकसम होते हैं, तथापि दोनों की पृथक विशिष्टता प्रतीत होती है। शुद्धविद्या तत्त्व, सदाशिवतत्त्व और ईश्वरतत्त्व के अधिष्ठात्र-देवताओं का करणस्थानीय तत्त्व है।[2] जिस प्रकार परमशिव का बहिरौन्मुख्य शक्तितत्त्व अभिहित होता है, वैसे ही सदाशिव और ईश्वर का बहिरौन्मुख्य शुद्धविद्या तत्त्व कहलाता है।[3] इनमें मायीय मल का आरम्भ हुआ सा प्रतीत होता है, परन्तु माया का प्रभाव इस अवस्था में अवस्थित आत्मा पर नहीं होता। "वास्तव" में यहाँ भेदाभेदमय दृष्टि होती है।

कुछ शैवाचार्यों के अनुसार विद्यातत्त्व के बहुत से अवान्तर भेद भी होते हैं, जिनमें महामाया प्रमुख है। यह माया से ऊपर और शुद्ध विद्या से निम्न दशा होती है।

महामाया (अशुद्ध अध्वा)– अब माया तत्त्व का कार्य प्रारम्भ होता है और यहीं से अशुद्ध अध्वा का प्रारम्भ होता है, जिसमें महेश्वर का स्वरूप गोपन होता है। अशुद्ध अध्वा में माया का प्राधान्य रहता है। इससे अशुद्ध सृष्टि मायीय सृष्टि कहलाती है। इस अशुद्ध सृष्टि को अभिव्यक्त करने में भगवान् अनन्तनाथ पूरी तरह से स्वतन्त्र नहीं होते, क्योंकि एक तो वे शिव की इच्छा अधीन रहते हुए और दूसरे भोगलोलुप प्राणियों की भोगवासना को दृष्टि में रखते हुए ही माया आदि तत्त्वों की सृष्टि करते हैं।

माया में मलों का समावेश होने के कारण ही इस अध्वा (मार्ग) को अशुद्ध या अशुद्ध अध्वा कहा जाता है। माया के प्रभाव से आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को भूल कर सीमित हो जाता है। अपनी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता को भूल कर आत्मा को चिद्रूप न समझ कर शरीर को ही आत्मा समझने लगता

---

1. "तदेषां यदेवं पारमार्थिक रूप तत्रैव प्ररूढत्वात् अहमित्यस्य शुद्धवेदनरूपत्वम्।।" (ई० प्र० वि०, भा० 2, पृ० 198)
2. "तदधिष्ठातृदेवताद्वयगतं "करणं" विद्यातत्त्वम्।" (ई० प्र० वि०, भा०-2, 3/1/5)
3. "यद्यपि परमशिवस्यैवेदमेकघनमैश्वर्य तथापि तस्य यथा बहिरौन्मुख्येन व्यापारः शक्तितत्त्वं तथा सदाशिवेश्वरयोरपि विद्यातत्त्वम्।" (तं० अ० वि०, भा० 6, पृ० 50,51)

है तथा इस तरह सीमित अनुभव के कारण दुःखी होने लगता है। इस प्रकार से ग्राह्य-ग्राहक भाव उत्पन्न हो जाने के कारण ही उत्तरवर्ती सृष्टि अशुद्ध सृष्टि अथवा अशुद्ध अध्वा कहलाती है। इस दशा को 'मायाध्वा' भी कहते हैं।

6. **माया तत्त्व–** माया शब्द "मा" धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है मापना, माप कर पृथक् कर देना, परिमित कर देना। जो अनुभव को परिमित बना देती है।[1] अर्थात् 'अहं' को 'इदं' से और 'इदं' को 'अहं' से पृथक् कर देती है, भेद उत्पन्न कर देती है, वस्तुओं को एक दूसरे से भिन्न कर देती है, वह माया है।[2]

माया से पृथ्वी तक की सृष्टि अशुद्ध सृष्टि कहलाती है, क्योंकि इसमें 'माया' की प्रधानता रहती है। यह परमशिव की अनेक शक्तियों में से एक है। इसी माया शक्ति के आवरण में 'परमशिव' अपने वास्तविक स्वरूप का गोपनकर पशुदशा को प्राप्त करता है। वस्तुतः यह माया तत्त्व ही जगत् की रचना का कारण है। माया आत्मा पर एक आवरण डाल देती है तथा भेद बुद्धि उत्पन्न कर देती है, जिससे वह स्वत्व को भूलकर शरीरादि से तादात्म्य करने से सुप्त-सा (अणु) हो जाता है।[3] इसलिए इसे विमोहनी शक्ति भी कहते हैं।[4] यहाँ अहम् अंश पुरुष रूप में तथा इदम् अंश प्रकृति रूप में अभिव्यक्त होता है। परमेश्वर अपने प्रकाशस्वरूप के आच्छादन की क्रीडा करते हुए इस माया तत्त्व का अवभासन करते हैं।[5] यही उनकी स्वातन्त्र्य शक्ति है।

मायाशक्ति तो परमसत्ता की स्वाभाविक सामर्थ्य होती है। जिससे वह विविध रूपों में प्रकाशित होते हैं। माया का ग्रन्थयात्मक रूप भी माना जाता है। इसकी

---

1. "तिरोधान मायाभिधापुनः" (ब्र० सू० शां० भा०)
2. "परमेश्वरस्य भेदावभासने स्वातन्त्र्यं तदेवाव्यतिरेकिणी।
   अपूर्णा प्रथनेन मीनाति हिनास्ति इति माया शक्तिः उच्यते।।" (तं० आ० टी० भा० 6, पृ०-116)
3. (क) "सुप्तस्थानीयमणुम्" (तं० सा०, आह० 8)
   (ख) "भेदे त्वेकरसेभातेऽहन्तयानात्मनीक्षिते।।" (ई० प्र० का०, 3/8)
4. "यदा भावा भेदेनदन्तयैव भासन्तेऽहमिति प्रमातृत्वेन च देहादिः
   तदा विपर्ययद्वयहेतुर्मायाशक्तिर्विमोहिनी नाम विजृम्भा।" (ई० प्र० का० वृ० पृ० 62)
5. "देवः स्वतन्त्रचिदरूपः प्रकाशात्मा स्वभावतः।
   रूपप्रच्छादनक्रीडांयोगादणुनेककः।। (तं० आ० भा० 8-13/103)

तीन ग्रन्थियों से आणव, मायीय और कार्म मल उत्पन्न होते हैं। जिन्हें पाश भी कहते हैं। अतः माया का तत्त्व, शक्ति और ग्रन्थयात्मक त्रिविधस्वरूप माना गया है।[1]

माया शक्ति अनात्मस्वरूप प्राण, बुद्धि एवं शरीर का आत्मा के साथ एकत्व स्थापित करती है। काश्मीर शैव दर्शन में माया का स्वरूप तीन प्रकार से वर्णित है- जड़ व्यापक तथा सूक्ष्म! व्यावहारिक जगत् में चिदात्मा से पृथक होने के कारण यह अचेतन है तथा इसके कार्य भी अचेतन हैं। भेदरूप सृष्टि करने के कारण माया को जड़ कहा गया है, क्योंकि माया से भेदरूप पदार्थों का प्रकाशन होता है[2] और इस दर्शन के अनुसार ज्ञान की परिच्छिन्नता ही जड़ता का लक्षण है।[3]

संसार का कारण होने के कारण माया व्यापिनी तथा कार्यों की कल्पना करने के कारण सूक्ष्म कही जाती है। परमेश्वर की शक्ति होने के कारण यह नित्य है तथा विश्व का कारण है। पृथिवी पर्यन्त सभी तत्त्व इसमें निहित हैं। माया से युक्त अणु (जीव) चित्त प्रधान होता है।[4] माया को परानिशा भी कहा जाता है।[5] माया मोक्ष-इच्छुक जीवों को संसार में फंसाकर भ्रमाती है।[6] ज्ञान के विपरीत स्वरूप वाली होने के कारण इसको मिथ्या ज्ञान वाली भी कहा जाता है। परमार्थसार में भी वर्णन मिलता है कि ज्ञान रूप प्रभु (शिव) माया के परिग्रहण से मलिन होकर पुरुष तत्त्व (जीव या पशु) बनता है।[7] संक्षेप में मायातत्त्व की सृष्टि का मूल कारण परमशिव की इच्छा है। माया से क्रमशः कला, विद्या, राग, काल और नियति तत्त्वों का प्रादुर्भाव होता है, जिन्हें कञ्चुक भी कहते हैं।

माया के पाँच कञ्चुक- कलादि पञ्च कञ्चुक अथवा माया सहित षट्-कञ्चुक जीवात्मा के आन्तरिक आवरण कहे गये हैं। इन पाँचों को माया के परिणाम

---

1. "एवं मायायास्तत्त्वग्रन्थिशक्त्यात्मकं त्रिविधं रूपमुक्तम्।" (स्वच्छ० तं० टी०, भा० 5, पृ०-481)
2. "सा जडा भेदरूपत्वात्।" (तं० आ० भा० 6, 9/51)
3. "प्रकाशपरिच्छिन्नत्वं जड़स्य किल लवणम्" (तं० आ० टी० भा० 6, पृ०-227)
4. "चित्तमेव तु मायाप्रमातुः स्वरूपं-तन्मयो माया प्रमाता।" (प्र० ह०, सू० 6-पृ० 56)
5. "आद्यो भेदावभासो यो विभागमनुपेयिवान्। गर्भीकृतानन्तभाविविभासा सा परानिशा।।" (तं० आ०, भा० 6 9/150,151)
6. "भ्रमत्येव तान् माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सा।" (स्वच्छ० तं० 10/1141)
7. "मायापरिग्रहवशाद् बोधे मलिन पुमान् पशुर्भवति।" (पर० सा० का० 16)

या विस्तार के रूप में समझा जा सकता है। ये तत्त्व परिमित शक्तियाँ ही होते हैं, जिनसे युक्त हुआ प्रमाता भी परिमित स्वरूप हो जाता है– अतः ये जीव के बन्धन या पाश कहे जाते हैं।[1] परमशिव की सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व, व्यापकत्व रूप असंकुचित शक्तियाँ ही उसकी इच्छा से संकुचित होकर क्रमश: कला, विद्या, राग, काल और नियति रूप में भासित होने लगती हैं। माया के कारण "सर्वमिद" अनुभव में निम्नलिखित सीमितता का परिवर्तन हो जाता है।[2]

7. **कला तत्त्व**-- परमेश्वर का परमार्थ स्वरूप गुप्त होने पर एवं अणु बनने पर– जिसके द्वारा उसका सर्वकृर्तत्व संकुचित होकर किञ्चित्कर्तृत्व में परिणत हो जाता है, उसे कला तत्त्व कहते हैं।[3] कला से ही प्रधान (प्रकृति) की उत्पत्ति होती है।[4] यह माया की प्रथम सृष्टि है। कश्मीर शैव दर्शन में कला को तत्त्व रूप में शास्त्रीय मान्यता प्राप्त है क्योंकि इसके द्वारा ही मानव को परिमित शक्ति की व्याख्या होती है। कला माया का कार्य तथा विद्यादि का कारण भी है अर्थात् अग्रिम विद्या, राग, काल आदि चार तत्त्वों की उत्पत्ति कला से होती है।७ माया प्रमाता की चेतना का अपहरण कर उसे जड़ सा बना देती है, परन्तु पूर्ण जड़त्व से भी काम नहीं चल सकता, अतः काम चलाने के लिए थोड़ा सा चेतना का अंश भी दे देती है।[5] वह चेतना का अंश उसे क्रियाशील रहने की शक्ति प्रदान करता है। अतः वह कला तत्त्व ही है जो आत्मा के लिए क्रियाशक्ति एकत्रित करता है।

8. **विद्यातत्त्व**-- यह माया का द्वितीय कञ्चुक है। सीमित ज्ञान को उत्पन्न करने का कारण होने से इसे "विद्या" कहा जाता है। सीमित ज्ञान से अभिप्राय

---

1. "कलाविद्यारागकालनियतिर्बन्ध उच्यते।" (अनु प्र० पं० श्लो० 16)
2. "तथा सर्वकतृत्वसर्वज्ञत्वपूर्णत्वनित्यत्वव्यापकत्वशक्त्यः संकोचं गृहवाना यथाक्रमं कलाविद्यारागकालनियतिरूपतया भान्ति।" (प्र० ह०, पृ० 66)
3. "तत्सार्वकर्तृता सा संकुचिता कतिपयार्थमात्रपरा।
किञ्चित्कर्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम।।" (षट्० त्रि० त० सं०, श्लो० 8)
4. "वेद्यमात्र स्फुटम् भिन्नं प्रधानं सूयते कला।" (तं० आ०, आह० 9, पृ० 177)
5. "एवं कलाविद्यारागकालनियतिमिरीतप्रोतो माययामहहृतेश्वर्य सर्वस्वः सन् पुनरपि प्रतिवितीर्णतत्सर्वस्वराशिमध्यगतभागमात्र एवं भूतोऽय मितः प्रमाता भाति" (ई० प्र० वि० 3-1-9)

है कि जिसके (विद्यातत्त्व) द्वारा परमेश्वर का सर्वज्ञत्व संकुचित होकर किञ्चित् ज्ञत्व में परिणत हो जाता है, उसे विद्यातत्त्व कहते हैं।[1]

संकुचित ज्ञानरूपा विद्या अशुद्ध विद्या भी कहलाती है। पुरुषों में विवेकशक्ति रूप में स्थित जड़ बुद्धि से पृथक् एवं उसमें प्रतिबिम्बित विषयों की अनुभूति कहलाती है। जिससे "मैं इतना ही जानता हूँ" ऐसी अनुभूति होती है। विद्या ही बुद्धिरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित नील पीत आदि बाह्य और सुख-दुःख आदि आभ्यन्तर वेद्यभावों का विवेचन करके जीवात्मा को उनसे होने वाले सुख दुःखादि प्रत्ययों से अवगत कराती है।

विद्या ज्ञान की सीमित शक्ति है। बुद्धि अपने में प्रतिबिम्बित भावों को पृथक्-पृथक् कर उनसे उत्पन्न सुख दुःखादि प्रत्ययों का ज्ञान मितात्मा को नहीं करा सकती।

9. **रागतत्त्व**– क्षेमराज के अनुसार परमेश्वर की नित्य, परिपूर्ण, तृप्ति नामक शक्तियों में संकोचभाव का उत्पन्न होना तथा माया से आच्छादित जीव का विश्व को आत्मभाव से न देख कर देह के प्रति आसक्ति का होना 'राग' तत्त्व कहलाता है। यह बुद्धि के धर्म "स्थूल राग" (अवैराग्य) से सूक्ष्मतर है।[2] इसलिए इस राग तत्त्व नामक कञ्चुक को वैराग्य का आभावरूप राग नहीं समझा जा सकता। इसी तत्त्व के द्वारा पुरुष की विषयों के प्रति आसक्ति व्यक्त होती है, इसी के द्वारा पुरुष कुछ विषयों के प्रति रूचि तथा कुछ के प्रति अरूचि प्रदर्शित करता है।[3] यह पुरुष को भेदगत भोगों में अनुरञ्जित करता है।[4] इसके कारण, शाश्वत क्षणिक प्रतीत होता है।

---

1. सर्वज्ञ तस्य शक्तिः परिमिततनुरल्प वेद्यमात्रपरा।
   ज्ञानमुत्पादयन्ती विद्येति निगद्यते बधैराधैः।।" (षट्० त्रिं० तं० सं०, श्लोक-9)
2. द्रष्टव्य ई० प्र० वि०, भा० 2, पृ० 209
3. "इत्यत्रार्थेऽभिष्वङ्गरूपः प्रमातरि देहादौ प्रमेये च गुणाद्यारोपणमय इव रागो व्याप्रियते"
   (ई० प्र० वि० 2, पृ० 238)
4. "रागोऽपि रञ्जयत्येनं स्वभोगेष्वशुचिष्वपि।" (मा० वि० तं०, 1-18)

10. **कालतत्त्व–** परमेश्वर की नित्यता शक्ति ही संकुचित होकर 'कालतत्त्व' कहलाती है।[1] त्रिकालबाधित 'परमशिव' नित्यता शक्ति ही माया के प्रभाव से संकोच का आश्रय लेकर कालातीत 'शिव' को वर्तमान, भूतकाल और भविष्यकाल में विभक्त करने के कारण 'कालतत्त्व' कहलाती है। इसके कारण ही अक्रम स्वरूप में क्रमता का अवभास होता है। इस क्रम रूपता का अवभासन करने वाली पारमेश्वरी शक्ति ही 'कालशक्ति' कही जाती है।[2] मैं कृश हूँ या स्थूल हूँ अथवा अमुक वस्तु मुझे पूर्वज्ञात थी, जानता हूँ तथा जानूंगा आदि नाना प्रकार की कल्पनाएँ काल तत्त्व के द्वारा ही हुआ करती हैं। यह काल सूर्य, चन्द्र की गति से क्षण, घटिका, मास, वर्ष, युग कल्प के रूप में बाँटा गया है।

11. **नियतितत्त्व–** नियति तत्त्व परम स्वातन्त्र्य एवं व्यापकत्व को सीमित कर एक निश्चित् नियमितता का प्रसार करता है। इसके अनुसार एक निश्चित् कारण से ही निश्चित् कार्य की प्राप्ति हो सकती है, यथा अग्नि से ही धूम रूपी कार्य का निकलना हो सकता है। इस प्रकार जिस पुण्यापुण्य से आत्मा का नियमन होता है, वहीं इसका नियति तत्त्व है। नियति वह शक्ति है, जो विषयी की कारणात्मक क्षमता को सीमित करती है। विद्या और कला के द्वारा जीवात्मा कुछ वस्तुओं को जानने और करने में समर्थ होता है और इसके नियमों के अनुसार ही पुरुष में वस्तु विशेष के प्रति राग उदय होता है।[3] यह राग पुनः विद्या एवं कला का नियामक है।[4] इसी के नियमों के अनुसार प्रत्येक प्राणी अपने पूर्व कर्मों के फल को भोगने के लिए बाध्य बना रहता है। यह मूलतः सबकी नियामिका है।

12. **पुरुष तत्त्व–** 'परमशिव' अपनी स्वतन्त्रेच्छा से ही अपने वास्तविक स्वरूप का गोपन कर अर्थात् सर्वकर्तृत्व के स्थान पर किञ्चित्कर्तृत्व के संकोच को धारण

---

1. द्रष्टव्य०- (प्र०हृ०, पृ०66)
3. "सेयम् इत्थभूताभासवैचित्र्यप्रथनशक्तिः भगवत् काल शक्तिः इत्युच्यते"- (ई०प्र०वि०, भा० 2, पृ० 13)
4. "नियतिः ममेदं कर्त्तव्यं इतिनियमनहेतुः।" (परा प्रा, पृ 9)
5. (ई०प्र०वि०, भा०-2, पृ-209)

करते हुए 'पति' से 'पशु' दशा को प्राप्त कर पुरुष (जीव) कहा जाता है। यह अणु, जीव, पुमान, पुद्गल आदि विविध नामों से अभिहित किया जाता है।[1] संकुचित 'अहम्' का नाम 'पुरुषतत्त्व' है। वास्तव में ऐसा केवल दिखाई सा देता है तथा इस आभास के कारण ही वह पूर्णत्व से अणुत्व को प्राप्त करता है, यथार्थ में तो वह परमशिव ही होता है।[2] शिव जब कञ्चुकों सहित माया को स्वीकार कर लेता है तब उसका ऐश्वर्य और सार्वभौम ज्ञान संकुचित हो जाता है और वह पुरुष एक परिमित व्यक्ति बन जाता है।[3] इन छः कञ्चुकों के भीतर लिपटी हुई और इस तरह से संकुचित बनी हुई संवित् को ही पुरुष तत्त्व कहते हैं, तथा शुन्य भी इसी का नाम है। इस अवस्था में आत्मा सीमित हो जाती है और अपने मूल स्वरूप को भूल जाती है। पाँच सर्वोच्च मूल शक्तियाँ चित्, आनन्द आदि के स्थान पर आत्मा अब कला, विद्या आदि गुणों को ग्रहण करता है, जो आत्मा के सच्चे स्वरूप को छिपाते हैं। इस प्रकार अज्ञानवश अपने को बन्धन में डाल देता है। जब तक उसे शिव भाव के स्वातन्त्र्य का बोध नहीं होता तब तक वह अनेकानेक जीव योनियों में संचरण करता हुआ कर्मों के अनुसार सुख-दुःख आदि को भोगता रहता है।[4]

ये पुरुष आणव, मायीय और कार्म-तीनों मलों से युक्त होने पर भी संसार-बीज कार्म मल के प्राधान्य वाले होते हैं तथा "सकल" प्रमाता कहलाते हैं।[5] पृथिवी पर्यन्त इनकी अवस्थिति मानी गई है। आत्मस्वभाव की अपूर्णता की अभिव्यक्ति हो जाने पर वह मुक्त हो जाता है।[6] पुरुष में मल और षट् कञ्चुक मानना काश्मीर शैव दर्शन की अपनी विशेषता है तथा इनके अनुसार पुरुष परमसत्ता के आभास हैं।

---

1. "इदमेव च पञ्चविंशं पुंस्तत्त्वमित्युच्यते, यत् श्रीपूर्वशास्त्रेषु पुमानिति, अणुरिति, पुद्गलमिति चोक्तम्।" (तं० आ० वि०, भा० 6, पृ० 165)
2. "सर्वो ग्राहको विश्वशरीरः शिवभट्टारक एव।" (प्र० हृ०, पृ० 53)
3. "मायागृहीतसंकोचः शिवः पुंस्तत्त्वमुच्यते" (अनु० प्र० पं० श्लोक-32)
4. "परिमितात्मा स स्वात्मैश्वर्यमपि प्रत्यभिज्ञातुमपटुः संचरति विचित्रयोनिषु।" (ष०त्रि०त०सं० वि०, पृ० 5)
5. "देवादीनां च सर्वेषां भविनां त्रिविधं मलम्।
तत्रापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसारकारणम्।।" (ई० प्र० का०, 3/21)
6. "स्वशक्त्यभित्यक्तता मोक्षः।।" (प० सा० का०-60)

13. प्रकृति तत्त्व– सद्‌विद्या की "अहं च इदं च" की जो अनुभूति है, उसमें से "अहम्" अंश की अभिव्यक्ति पुरुष है और "इदम्" अंश की अभिव्यक्ति प्रकृति है। प्रकृति अपने गुणों की साम्यावस्था में रहती है।[1] काश्मीर शैवदर्शन और सांख्य दोनों ही प्रकृति को सत्व, रजस् और तमस् की अक्षुब्ध दशा मानते हैं।[2] और जिस के परिणाम स्वरूप सम्पूर्ण प्रमेयों को सुख-दुःख एवं मोहात्मक माना गया है।[3] परमशिव द्वारा स्वस्वरूप का गोपनकर जीव रूप में भेद को अवभासित करते हुए विश्वरूपी प्रमेयतत्त्व की प्रतीति ही 'प्रकृतितत्त्व' कहलाता है। भगवान शिव पुरुषों के कर्मानुसार उन्हें सुख दुःखादि भोगों का अनुभव कराने के लिए प्रकृति को क्षुब्ध करते हैं। महत् तत्त्व से लेकर पृथिवी तत्त्व पर्यन्त सभी तत्त्वों का मूल कारण प्रकृति तत्त्व है पुरुष भोक्ता है और प्रकृति उसकी भोग्या है, परन्तु वास्तव में दोनों एक ही हैं। जिस प्रकार पुरुष जगत् -क्रीड़ा करने वाले परमेश्वर का आत्म-आभास है उसी प्रकार प्रकृति उसकी वेद्य-कल्पना है।[4] अतः प्रकृति के अन्तःवर्ती एक प्रक्षुब्ध दशा की सत्ता को "गुणतत्त्व" संज्ञित किया गया है, जिसे पृथक् तत्त्व नहीं कहा जा सकता।[5]

काश्मीर शैव दर्शन में प्रकृति स्वयमेव विक्षुब्ध नहीं होती। प्रकृति तो भगवान् अनन्तनाथ पुरुषों के कर्मों के आधार पर उन्हें सुख दुःखादि का अनुभव कराने के लिए क्षुब्ध करते हैं। जिस से तीनों गुण क्षुब्ध होकर जगत् कार्य का विस्तार करते हैं।[6] इसलिए काश्मीर शैव दर्शन भी प्रकृति गणत्रय की साम्यावस्था मानता है। प्रत्येक पुरुष के लिए भिन्न-भिन्न होने से प्रकृति को असंख्य भी माना गया है।[7] प्रत्येक पुरुष के लिए पृथक्-पृथक् प्रकृति है।

---

1 "सत्त्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रकृतिः।" (तं॰सा॰,पृ॰ 83)
2. "भोक्तृत्वाय स्वतन्त्रेशः प्रकृतिक्षोभेद् कृशमः।" (तं॰ लो॰ 6, 1,-225)
3. "तावदेष एव सुखदुःखमोहात्मकं भोग्य विशेषातनु----प्रकृति तत्त्वस्यसर्गः" (तं॰ सा॰, पृ॰ 73)
4. "इदमेव हि परं स्वातन्त्र्यं-यत-स्वस्वरूपं वेदकमेव सत् वेधत्वेन अवभासयति।" (त॰ आ॰ वि॰ भा॰ पृ॰ 209)
5. "तदेव (प्रकृतितत्त्वम्) तु भोग्यसामान्यम् प्रक्षोभगतं गुणतत्त्वम्" (तं॰ सा॰, आह॰ 8)
6. "ईश्वरेच्छावशक्षुब्धलोलिकं पुरुषं प्रति।
भोक्तृत्वाय स्वतत्रेशः प्रकृति क्षोभयेदकृशम।।" (तं॰ आ॰, 6, 9/225)
7. "प्रकृतिः भिन्नं प्रतिपुनियतत्वादनेकमिति।।" (तं॰ आ॰ वि॰ भा॰ 6, पृ॰ 171, 172)

14. **बुद्धि तत्त्व (महत् तत्त्व)**– अन्तःकरणों में सर्वप्रथम सत्त्वगुण प्रधान "बुद्धि तत्त्व" की उत्पत्ति होती है। यह एक स्वच्छन्द जड़ तत्त्व होने से प्रत्येक पदार्थ इसमें प्रतिबिम्बित होता है। 'महत्' अर्थात् "बुद्धि" एक करणतत्त्व है। इसका कार्य निश्चय करना होता है।[1] इससे सत्तामात्र की प्रतीति होती है।[2] बुद्धि ही प्रतिबिम्बित विषय के नाम, रूप की कल्पना करती है। बुद्धि ही पुरुष के नाम रूप की कल्पना करती है। बुद्धि ही पुरुष का सबसे प्रधान और निकटतम करणतत्त्व है।

15. **अहंकार तत्त्व**– गुणों में विषमता आने पर रजोगुण प्रधान इस द्वितीय अन्तःकरण 'अहंकार' की उत्पत्ति होती है।[3] बुद्धि तत्त्व से 'अहंकार' उत्पन्न होता है। इसके द्वारा अहं प्रतीति होती है एवं यह सभी प्रमेयों से तादात्म्य स्थापित करता है, जिससे वे अपने माने जाते हैं।[4] "यह मेरा है", "यह मेरा नहीं है" इस प्रकार का अभिमान ही 'अहंकार तत्त्व' कहलाता है।

मन और बुद्धि का स्फुट व्यवहार जाग्रत् और स्वप्नावस्था तक ही रहता है, किन्तु अहं की गति सुषुप्ति तक रहती है। इसमें प्रथम क्रिया का अनुभव सा होता है और वह दुःखात्मक होती है।[5]

16. **मनतत्त्व**– तीसरे अन्तःकरण को 'मन' कहा जाता है। तमोगुण का परिणाम, संकल्प और विकल्प का कारण 'मन' तत्त्व है। यह अहंकार का परिणाम है। यह क्रिया प्रधान, संकल्प-विकल्पशील, तमो गुण रूप होता है।[6] यह इन्द्रियों को ठोस चित्र बनाकर देता है। यह इच्छाओं का घर ओर अभयेन्द्रिय है।[7] संक्षेप में मन आन्तरविषयों का ज्ञान स्वतन्त्र रूप से तथा ब्राह्य विषयों का ज्ञान इन्द्रियों के सहयोग से करता है।

---

1. "ज्ञानमपि सत्त्वरूपा निर्णयबोधस्य कारणं बुद्धिः।" (त० सं०, 15)
2. "सत्तामात्रे महति आत्मनि।" (यो० भा० 2-19, पृ० 76)
3. "इच्छास्य रजोरूपाहंकृतिरासीदहंप्रतीतिकरी।" (तं० सं०, 14)
4. "ग्राह्य-ग्राहकाभिमानरूपोऽहंकारः।" (ई० प्र० वि० 3/1/11)
5. "दुःख रजः क्रियात्मत्वात् क्रिया हि तदतत्क्रमः।" (तं० आ० आह, 9/222)
6. "तस्यक्रिया तमोमयमूर्त्तिमन उच्यते विकल्पकारी।" (त० सं०, 15)
7. "उभयात्मकं मनः।।" (सां० द०, 2-26, 27)

अहंकार से मन के साथ-साथ पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ तथा पञ्च तन्मात्रायें भी अभिव्यक्त होती हैं।

17-21 **पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ-** ये क्रमशः श्रवणेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और धाणेन्द्रिय हैं। ये पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ विषयों के प्रतिबिम्बों को लेकर बुद्धि के दर्पण में डाल देती है। जिनसे क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ग्रहण होता है। ये इन्द्रियाँ स्थूल और सुक्ष्म दोनों शरीरों में रहती हैं, क्योंकि ऐसी मान्यता है कि सूक्ष्म शरीर में भी रहता हुआ जीव सभी विषयों को ग्रहण कर सकता है।

22-26 **पञ्च कर्मेन्द्रियाँ-** पुरुष की कला में उपयुक्त होने वाली उसकी इन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियाँ कहलाती हैं। इन कर्मेन्द्रियों के सहारे ही पुरुष किसी कार्य को करने में समर्थ होता है। ये क्रमशः वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इन्द्रियाँ होती हैं[1] जिनसे क्रमशः बोलना, ग्रहण करना, चलना, विसर्जन एवं जनन अथवा आनन्दोत्पादन की क्रियायें सम्पन्न होती हैं।

ये कर्मेन्द्रियाँ स्थूल शरीर के साथ-साथ सूक्ष्म शरीर में भी अधिष्ठित होती हैं। ऐसी मान्यता है कि सूक्ष्म शरीर में रहता हुआ भी जीव कला के सभी व्यापारों को कर सकता है।

27-31 **पञ्चतन्मात्राएँ-** तमोगुण प्रधान अहंकार से ज्ञानेन्द्रियों के पाँच सूक्ष्म विषयों की अभिव्यक्ति होती है। ये क्रमशः शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप, तन्मात्रा, रस तन्मात्रा, गन्ध तन्मात्रा कहलाती है। इनमें भेदक गुण नहीं होते हैं। ये सर्वथा प्रविभाग से रहित सूक्ष्मतर विषयमात्र होते हैं।

32-36 **स्थूलभूत-** ज्ञानेन्द्रियों के सूक्ष्म विषय तन्मात्राओं के आपसी सम्पर्क से स्थूल विषय बन जाते हैं, तो आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी नामक स्थूल पञ्च महाभूतों की अभिव्यक्ति होती है।[2] अतः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और

---

1 "वाक्पाणिपादपायूपस्थं कर्मेन्द्रियाणि" (पार० सा०, पृ० 21)

2. पूर्वपक्षतया येन विश्वमाभास्य भेदतः।
अभेदोत्तरपक्षान्तनथिति तं स्तुमः शिवम्।।" (ई० प्र० वि०)

गन्ध तन्मात्राओं से क्रमश: आकाश, वायु आदि स्थूलभूत विकसित होते हैं, जिनके गुण क्रमश: शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं।

उपर्युक्त प्रकृति से पृथ्वी तक (23 तत्त्वों) के विकास के विषय में काश्मीर शैव दर्शन और सांख्य में सहमति है। बुद्धि (महत्) तत्त्व् से लेकर पृथ्वी पर्यन्त 11 (ग्यारहाँ) तत्त्वों की सृष्टि को गुणमयी सृष्टि कहते हैं क्योंकि गुणों में विषमता आ जाने पर ही मूल प्रकृति अन्य रूपों में परिणत होती है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार ये तत्त्व प्रकृति का विकास होते हुए भी अन्तत: परमशिव की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। 'काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार सृष्टि के सभी तत्त्व परमशिव की विभिन्न अवस्थाओं के विभिन्न रूप ही है। इनका पृथकूरूप से अपना कोई अस्तित्व नहीं होता।

(ख) शिवादि सकल पर्यन्त सप्त-प्रमाता

कश्मीर शैव दर्शन के अनुसार एक ही परमार्थ सत्ता है, जो शिव और शक्ति की सामरस्य माना जाता है। जिस प्रकार जल से उसकी शीतलता, अग्नि से उसकी उष्णता को पृथक् नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार शिव और शक्ति को पृथक नहीं किया जा सकता है। यह शिव और शक्ति ही विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमयता के रूप में प्रकाशित होते हैं। परमशिव की विश्वोत्तीर्ण वह दशा है, जिस में प्रमेय तथा सप्तप्रमाता प्रकाशरूप में उनमें विद्यमान रहते हैं।[1] जैसे अग्नि में लकड़ी डालने से वह भी अग्नि रूप हो जाती है, इसी प्रकार विश्वोत्तीर्ण अवस्था में एकत्व हो जाते हैं। तथा विश्वमयता शक्ति की वह दशा है, जिसमें वह सप्तप्रमाता और 36 तत्त्वों के रूप आभासित होती है। वास्तव में सात प्रमाताओं तथा छत्तीस तत्त्वों का परस्पर सम्बन्ध ऐसा है। जिस प्रकार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध होता है। इन सप्तप्रमाताओं में प्रथम प्रमाता "शिव प्रमाता" कहलाता है।

1. **शिव प्रमाता–** सब से ऊँची श्रेणी के प्रमाता 'शिव प्रमाता' कहलाते हैं। मल से रहित होने के कारण इन्हें 'अमल' भी कहते हैं। यह शिव प्रमाता शिव और शक्ति का अद्वयरूप है। शिव के बिना शक्ति का और शक्ति रहित शिव का कोई अस्तित्व नहीं अर्थात् शक्ति रहित शिव 'शव' है। वास्तव में शिवतत्त्व तथा शक्ति तत्त्व नित्य तत्त्व हैं केवल औपचारिक रूप में इन्हें पृथक्-पृथक् कहते हैं।

इस श्रेणी के प्राणी पूर्ण अभेद की भूमि पर स्थिर रहते हैं। इन्हें अपनी परिपूर्णता का सतत आभास होने के कारण परमेश्वरता का विमर्श भी होता रहता है। ये परिपूर्ण जगदानन्द के समुद्र जैसे होते हैं और इनमें उस आनन्द की अनन्त लहरें असंख्य प्रकार से बहिर्मुख और अन्तर्मुख उभयाकार स्पन्दन करती रहती हैं। इनके ठहरने का स्थान शिव तत्त्व और शक्तितत्त्व होता है। 'शिव तत्त्व'

---

1 "तदुत्तीर्णशिवभट्टारकस्य प्रकाशैकवपुषः प्रकाशैकरूपा एव भावाः।" (प्र० ह०, पृ०-50)

2 श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण-विश्वात्मक-परमानन्दमय-प्रकाशैकघनस्य एवंविधमेव शिवादि-धण्यन्तम् अखिल अभेदेनैव स्फुरति:। (प्र०ह्र०पृ 51)

के अनुभाविक को 'शाम्भव' प्राणी कहते हैं।[1] जगत् लीला के समय शिव अपने आप को अव्यक्त करना चाहते हैं। इसलिए उनका जो सर्वप्रथम रूप है, उसमें वह निषेध व्यापार कर देते हैं। इस प्रकार यह 'शिव तत्त्व' कहलाते हैं। इस शिव तत्त्व का रूप "प्रकाशमय" है, इन्हें अपनी प्रकाशरूपता का चमत्कार अधिक प्रधानता से होता रहता है। इसके अधिष्ठाता को 'भट्टारक शिव' कहते हैं। इसमें चित् शक्ति की प्रधानता रहती है। इन्हें 'अकल' प्राणी भी कहा जाता है।

शिव तत्त्व में निषेध व्यापार करने वाले तत्त्व की अभिव्यक्ति 'शक्ति तत्त्व' के रूप में होती है। शक्ति तत्त्व के अनुभाविक को 'शाक्त' प्राणी कहते हैं। इन्हें अपनी विमर्शरूपता का ही चमत्कार प्रधानतया अधिक होता रहता है। ये (शक्ति) परमेश्वर का स्वभाव है तथा परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैरवरी आदि शक्ति वर्ग के रूप में स्फुरित होने वाली संवत् है।[2]

दोनों प्रकार के इन अकल प्राणियों को सदैव ही अपने परिपूर्ण "अहं" ही का आभास होता रहता है। इनका अस्तित्व "अहं अस्मि" होता है। इन प्राणियों को 'अकल' प्राणी इसलिए कहा जाता है क्योंकि कला तत्त्व से ही अन्य मायीय तत्त्वों की उत्पत्ति मानी गयी है। अतः शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि सभी बन्धन कला के ही विकार होते हैं। ये शुद्ध प्राणी कला और उसके विकारों से सदा मुक्त रहने के कारण अकल कहलाते हैं। इन अकल प्राणियों में किसी भी प्रकार का कोई भी मल नहीं होता। यह जो शाम्भव तथा शाक्त प्रमाता हैं, इनके सम्मिलित रूप को ही 'शिव प्रमाता' कहते हैं।

2. **मन्त्रमहेश्वर**— शिव और शक्ति तत्त्व के पश्चात् सदाशिव तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। वास्तव में यही वह बीज़ है, यहाँ से शिव और शक्ति के सतत आभासमान होने के कारण प्रथम सृष्टि होती है, जिससे सत् का ज्ञान होता है। इसीलिए

---

1. "अत्र च तत्त्वेश्वराः–शिवशक्तिसदाशिवेश्वरानन्ताः। ब्रह्मेव निवत्तौ।
एषां सामान्यरूपाणामनुगतिविषयाः पञ्च। तद्यथा–शाम्भवाः, शाक्ताः, मन्त्रमहेश्वराः, मन्त्रेश्वराः, मन्त्राः, (विद्येश्वराः) इति शुद्धाध्वा।" (तं० सा० पृ० 74, 75)
2. "विश्वात्मिका तदुत्तीर्णा हृदयं परमेशितुः।
परादिशक्तिरूपेण स्फुरन्ती संविद नुमः।।" (परा० प्रा० श्लो०-1)

इसे सादारव्य तत्त्व भी कहा जाता है।[1] यह अकल प्रमाता से निम्न श्रेणी है। इसके अधिष्ठाता 'भट्टारक सदाशिव' होते हैं। प्रमाता मन्त्रमहेश्वर कहलाते हैं तथा उन्हें 'अहं-इदं' का अनुभव होता है, अर्थात् "मैं ही प्रमेय तत्त्व हूँ" ऐसा अनुभव होता रहता है।[2] जिसमें प्राधान्य तो "अहं" का ही रहता है किन्तु 'इदं' 'अहं' से पूर्णतः भिन्न नहीं होता। 'अहं' चेतन प्रमाता का द्योतक है तथा 'इदं' जगत् का द्योतक है। यद्यपि यहाँ पर 'इदं' रूप जगत् का स्वरूप अंकुरित हो रहा होता है तथापि मन्त्रमहेश्वर इसे अपना ही रूप समझता है। यहाँ पर जगत् अस्फुट रूप से प्रतिभासित होता है।

मन्त्रमहेश्वर भेद की छाया से युक्त अभेद के दृष्टिकोण से देखते हैं। इनमें भी कोई मल नहीं होता, किन्तु विश्व अस्फुट रूप से भासित होने के कारण मल के विकास के प्रति एक प्रकार की उन्मुखता जैसी मन्त्रमहेश्वरों में मानी जा सकती है। इसलिए इनको न ही पूरे समल और न ही पूरे निर्मल माना जा सकता है। तभी तो इन्हें शुद्धाशुद्धप्राणी कहा जाता है। मन्त्रमहेश्वर प्रायः सतत गति से शिवसमावेश के चमत्कार में ही मस्त रहते हैं और इन्हें विश्व भेदाभेद दृष्टि से प्रकाशित होता है। अतः यह शिव का विश्व-सिसृक्षा के लिए अन्तः निमेष होता है।[3]

3. **मन्त्रेश्वर**— तीसरी श्रेणी में ईश्वरतत्त्व में ठहरने वाले 'मन्त्रेश्वर' नाम के प्राणी आते हैं। सदाशिव के बाद इस तत्त्व के अधिष्ठाता को 'भट्टारक ईश्वर' कहते हैं, जो माया से अतीत होते हैं एवं परमेश्वर के लीलावश अवतारस्वरूप होते हैं। मन्त्रेश्वर भी प्रमेय अंश को भेदाभेद की ही दृष्टि से देखते हैं, परन्तु उन्हें प्रमेय भाव का आभास स्फुटतया हुआ करता है और प्रमातृभाव उस स्फुट

---

1. "सृष्टिक्रमोपदेशादो प्रथममुचितं तत्सादारव्यं तत्त्वम् (ई० प्र० वि०, भा० 2, पृ० 191)
2. "ततश्च शुद्धचैतन्यवर्गो यो मन्त्रमहेश्ववाख्यः, तस्य प्रथमसृष्टावस्माकमन्तः करणैकवेद्यमिव श्यामलप्रायमुन्मीलितमात्रचित्रकल्पं यद्भावचक्रम्, तथा संहारे ध्वसोन्मुखतया तथाभूतमेव चकास्ति प्रतिबिम्बप्रायतया, तस्य चैतन्यवर्गस्य तादृशिभावराशो तथा प्रथनं नाम यच्चिद्विशेषत्वं तत् सदाशिवम्।" (ई० प्र० वि० 3-1-2)
3. 'निमेषोऽन्तः सदाशिवः।" (ई० प्र० का०, 3/3)

प्रमेयभाव का विशेषण-सा बना रहता है। राजानक आनन्द के अनुसार प्रमेय समूह अधिक स्फुट होने से इसमें ज्ञान शक्ति का प्राधन्य रहता है।[1]

यहाँ का दृष्टिकोण "इदं-अहं" होता है,[2] अर्थात् "यह प्रमेय पदार्थ मैं हूँ।" मन्त्रमहेश्वर के विपरीत इसमें "इदं" का ही अंश प्रधान और उद्धेश्य बना रहता है और "अहं" का अंश अप्रधान रूप से प्रकाशित होता है। इनमें कोई मल नहीं होता। इनकी समलता इतनी ही होती है कि इनमें भेद का बीज अंकुरित-सा होने लगता है।[3] इस अवस्था में विश्व का परामर्श स्पष्ट होता है, किन्तु उसका "अहं" से तादात्म्य रहता है।

मन्त्रमहेश्वर तथा मन्त्रेश्वर का स्वरूप शुद्ध संवित् होने के कारण इनका व्यवहार केवल इच्छामात्र से ही होता है। जिस प्रकार शिव की इच्छा अनिरूद्ध और सदा सफल बनी रहती है, उसी तरह से इन दोनों श्रेणियों के प्राणियों की इच्छा सफल बनी रहती है।

4. **"मन्त्र" प्रमाता—** मन्त्रनामक प्राणी या विद्येश्वर चतुर्थ श्रेणी में आते हैं। ये प्राणी उस शुद्धविद्या में ठहरते हैं, जिसे महामाया भी कहा जाता है। इस शुद्धविद्या पर्यन्त समस्त परामर्श चैत्स होता है, इसलिए इसे "शुद्धाध्वा" भी कहा जाता है। क्योंकि यहाँ तक महेश्वर के स्वरूप का गोपन नहीं हुआ होता है।

इसमें 'अहं और 'इदं' दोनों परामर्श तुल्यरूप से भिन्न प्रतीत होते हैं। ये शुद्ध प्रकाश को अपना स्वरूप और शुद्ध विमर्श के ऐश्वर्य को अपना स्वभाव समझते हैं। यहाँ 'अनन्त भट्टारक' अधिष्ठाता होते हैं और प्रमाता 'मन्त्र' कहलाते हैं। इनका परामर्श "अहमिदमस्मि" होता है। परन्तु ऐसा होते हुए भी ये दूसरे प्राणियों को, परमेश्वर को तथा प्रमेय जगत् को अर्थात् 'इदं' अंश को अपने

---

1. "अत्र वेद्यजात्स्य स्फुटावभासनात् ज्ञानशक्त्युद्रेकः।" (षट्० त्रिं० त० सं० वि०, पृ० 4)
2. "भावराशौ पुनः स्फुटीभूते तदधिकरणे एवेदमंशे यवाहमंशं निषिञ्चति तदा ज्ञानशक्तिप्रधानमीश्वरतत्त्वम् इदमहमिति।" (तं० आ० वि० भा० 6, पृ० 50)
3. "ईश्वरतत्त्वे स्फुटेदन्तासामानधिकरण्यात्म यादृकृ विश्वं ग्राह्यं, तथाविध एव ईश्वरभट्टारकधिष्ठितो मन्त्रेश्वरवर्गः।" (प्र० ह०, पृ० 50)

से भिन्न समझते हैं। इन्हें प्रमेय के विषय में "अहम् अहम् इदम् इदम्" ऐसा आभास होता रहता है अर्थात् मैं मैं हूँ और यह यह है। इनमें शुद्धस्वरूप होते हुए भी भेददृष्टि हो जाती है और यही मायीय मल है और यही एक मल इन प्राणियो में रहता है।[1] इन प्राणियों की गणना शुद्धाशुद्ध कोटि में करने के कारण अविकसित माया को महामाया कहा जाता है।[2] भेददृष्टि के होने पर भी यह परमेश्वर के समान चलते हैं तथा यही उनकी परमेश्वरता है।

अकल से लेकर मन्त्र तक के इन चार वर्गों के प्राणियों में जो स्पन्दशीलता होती है, यदि वह उनमें नहीं होती तो वह कुछ नहीं होते। यदि होते तो शून्य गगन की तरह जड़ पदार्थ मात्र ही होते। इसमें क्रिया शक्ति की प्रधानता होती है।

इन चारों वर्गों के प्राणियों का स्वरूप शुद्ध चैतन्य होता है। स्थूल शरीर, अन्तःकरण आदि द्वारा वे काम नहीं करते, अपितु केवल एक मात्र चैतन्य के स्पन्दन से ही व्यवहार करते हैं। ये प्राणी श्वास, प्रश्वास, निद्रा, पिपासा आदि विकारों से सदा मुक्त रहते हैं। इसीलिए शुद्धज्ञान और शुद्धक्रिया रूपी प्राणनशक्ति के क्षेत्र के अधिकारी होते हैं।

5. **विज्ञानाकल–** पाँचवी श्रेणी के प्राणी विज्ञानाकल कहलाते हैं। इसका स्तर शुद्धविद्या से नीचे और माया से ऊपर है। परन्तु इनकी स्थिति महामाया की उस अवान्तर भूमिका में होती है, जो विद्येश्वरों की महामाया-भूमिका की अपेक्षा बहुत ही निचली कोटि की हुआ करती है।[3] ये अपने आप को शुद्ध और शून्य प्रकाशात्मक ही समझते हैं। परन्तु अपनी विमर्शरूपता के ऐश्वर्य की अनुभूति इन्हें नहीं होती।[4] इस दशा के अनुभवक प्रमाता को विद्येश्वर अथवा विज्ञानाकल कहा जाता है। इसका अनुभव 'अहं इदं' होता है, दोनों में ऐक्य की प्रतीति होती है। इनमें

---

1. "येन प्रकारेण विद्येश्वरा भगवन्नोऽनन्तद्या वर्तन्ते। ते हि शुद्धचैतन्यमात्रगृहीतात्मभावाः स्वतस्तु भिन्नं वेद्यं पश्यन्ति, यथा द्वैतवादिनामीश्वरः।।" (ई० प्र० वि०, 3-1-6)
2. "तत एवाप्ररूढमायाकल्पत्वान्महामायेय श्रीरौरवादिगुरुभिरूपपिष्टा।।" (तदेव, 3-1-6)
3. "मायातत्त्वस्योपरि विद्यातत्त्वाधश्चावश्यं तत्त्वान्तरेण भवितव्यम्। यत्र विज्ञानाकलानां स्थितिः। यथोक्तम्-मायोर्ध्वे शुद्धविद्याधः सन्ति विज्ञानकेवलाः। इति" (प० त्री० वि० पृ०-117)
4. "विज्ञानं बोधात्मकं रूपं केवलं स्वातन्त्र्यविरहितमेषामिति।" (ई० प्र० वि० 3-2-8)

'क्रियाशक्ति' की प्राधानता होती है। परमेश्वर ने अपने स्वभाव के क्रियात्मकता का अंश इनमें छिपा कर रखा होता है। इसमें आणवमल का उदय हो जाता है। मायीय मल के भी थोड़े से अंश की स्थिति इनमें मानी जाती है, कार्ममल इनमें नहीं होता।[1] इन प्राणियों में परस्पर भेद का आभास होता है।[2] अतः यह माया और शुद्धविद्या दोनों से भिन्न है। अद्वैत शैवों ने इस अवस्था को सांख्य पुरुष और शून्यब्रह्मवाद के समान बताया है।[3] इन विज्ञानाकल प्राणियों को ऐश्वर्य की अनुभूति के न होने के कारण किसी भी भावात्मक आत्म-आनन्द का आस्वाद प्रायः प्राप्त नहीं होता। इन्हें 'विज्ञानकेवली' भी कहते हैं, क्योंकि स्वातन्त्र्य से रहित केवल विज्ञान ही इसका स्वरूप होता है।

6. **प्रलयाकल**— छठी श्रेणी के प्राणी प्रलयाकल कहलाते हैं। माया में स्थित प्रमाता को प्रलयकेवली, प्रलयाकल, शून्यप्रमाता भी कहा जाता है। इस दशा में भेद प्रधान रहता है तथा प्रमाता अपने को दूसरे से भिन्न समझता है। यह प्रमाता शुद्ध प्रकाश को अपना आप न समझकर जड़ात्मक शून्य को ही 'अहं' समझ बैठते हैं। अतः दोनों प्रकार का आणव मल, कर्मों के संस्कार से कार्म मल एवं वेद्य के योग अथवा अयोग से मायीय मल विकल्प से होता है।[4] न तो उसे 'अहं' की ही स्पष्ट चेतना होती है और न ही 'इदं' की। अतः उसकी चेतना शून्य प्रधान होती है। भेद बुद्धि होने के कारण वह (प्रमाता) स्वत्व को भूलकर शरीरादि से तादात्म्य करने से सुप्त-सा (अणु) हो जाता है।[5]

ये प्राणी प्रायः सुषुप्ति की दशा में पड़े रहते हैं। यह सुषुप्ति दो प्रकार की होती है। एक प्रकार की सुषुप्ति में प्राणी या तो बुद्धितत्त्व में या प्राणतत्त्व

---

1. "कार्ममलास्पर्शी विज्ञानकेवलिरूपः" (शि० दृ० दृ०, पृ० 32)
2. "बोधादिलक्षणैक्येऽपि तेषामन्योन्यभिन्नता।
   तथेश्वरेच्छाभेदेन ते च विज्ञानकेवलाः।।" (ई० प्र०, 3-2-8)
3. "शुद्धबोधात्मानः - - - - ते च सांख्यपुरुषप्राया विज्ञानकला उच्यते।" (ई० प्र० का० वृ० पृ० 65, 66)
4. "शून्याद्यबोधरूपास्तु कर्त्तारः प्रलयाकलाः। तेषां कार्ममलोऽप्यस्ति मायीस्तु विकल्पितः।"
   (ई० प्र० का०, 3/19)
5. (क) "सुप्तस्थानीयमणुम्" (तं० सा०, आह० 8)
   (ख) "भेदे त्वेकरसे भातेऽन्तयानात्मनीक्षिते। शुन्ये बुद्धौ शरीरे वा मायाशक्तिर्विजृम्भते।।" (ई०प्र०का० 3/6)

में विलीन होकर रहता है। उस दशा में सूक्ष्मतर सुख, दुःख आदि की या तन्द्रा, श्रम आदि की अस्फुट सी अनुभूति भी साथ रहती है। उस सुषुप्ति से जागकर प्राणी को यह स्मृति होती है कि "वह बड़े सुख में सोया" इत्यादि। इस सुषुप्ति को सवेद्य सुषुप्ति कहा जाता है। दूसरे प्रकार की सुषुप्ति में प्राणी शून्य में ही विलीन होकर रहता है। जागने पर उसे ऐसी स्मृति होती है कि "मैं इतनी गाढ़ निद्रा में सोया कि कुछ स्मरण नहीं रहा।" इस सुषुप्ति को अपवेद्य सुषुप्ति कहा जाता है। माया के कारण इन प्रमाताओं को "सर्वमिदं" का अनुभव होता है।[1]

सकल प्रमाता— प्रकृति पुरुष की दशा में चैतन्य रूप आत्मा पाँच कञ्चुकों से और माया से आवरणित हो जाता है, इस दशा के प्रमाता को सकल प्रमाता कहते हैं। यह सब से निचली श्रेणी के प्राणी होते हैं। माया से लेकर पृथ्वी तक के प्रमाता इस श्रेणी में आते हैं। सकल का अनुभव नानात्व का रहता है। ये संसार को भेददृष्टि से सदा देखते रहते हैं। संकुचित कर्तृत्व के अभिमान से तथा कर्मवासना से घेरे ही रहते हैं। इस तरह से इनमें पूरे विकास को प्राप्त हुए तीनों मल रहते हैं।[2] चींटी से लेकर देवता पर्यन्त सभी स्थूल और सूक्ष्म शरीरों को धारण करने वाले सभी प्राणियों को 'सकल' कहते हैं। ये स्थूल जगत् तथा स्वप्नात्मक सूक्ष्म सृष्टि में कर्म करते हुए और अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःख भोगते हुए भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म-मृत्यु को प्राप्त करते रहते हैं।

---

1. "तथा सर्वकर्तृत्वसर्वज्ञत्वपूर्णत्वनित्यत्वव्यापकत्वशक्त्यः संकोचं गृहणाना यथाक्रमं कलाविद्यारागकालनियतिरूपतया भान्ति।।" (प्र० हृ०, पृ० 66)
2. "देवादीनां च सर्वेषां भविनां त्रिविधं मलम्।
तत्रापि कार्ममेवैकं मुख्यं ससार-कारणम्।।" (ई० प्र० 3-2-10)

चतुर्थ अध्याय

चितिशक्ति, जीव एवं बन्ध–मोक्ष

"चितिशक्ति, जीव एवं बन्ध–मोक्ष"

सदाशिव से लेकर, पृथिवी पर्यन्त विश्व की सिद्धिरूप निष्पत्ति, स्थितिरूप प्रकाशन और परप्रमाता में विश्रान्तिरूप संहार के लिए स्वतन्त्र, अनुत्तरविमर्शमयी, शिवभट्टारक से अभिन्न, पराशक्तिरूप भगवती चिति ही कारण है। अपना आत्मदेवता ही सब का कारण, सुखोपाय द्वारा प्राप्य तथा महाफल है। इस बात को अभिव्यक्त करने के लिए कहा गया है कि स्वतन्त्र चिति ही सृष्टि, स्थिति और लय अथवा संसारगत भोग–मोक्ष स्वरूप सिद्धियों की हेतु है।[1] इसीलिए इसको प्रकाश से अभिन्न तथा स्वतन्त्र कहा जाता है। संकोच के द्वारा ही यह भगवती चिति शक्ति चेतनपद से उत्तरकर चित्त बन जाती है, क्योंकि वह चेत्य के अनुकूल संकुचित हो जाती है।[2]

इसी चितिशक्ति का दूसरा नाम परमशिव भी है, जो सभी विकल्पों से रहित है। शिवदृष्टि में कहा गया है कि शिव और शक्ति में कभी भेद नहीं होता, प्रत्युत् वह्नि और उष्णता जल और शीतलता की तरह पूर्णाभेद है।[3] अतः शिव (पति) ही संकोच को ग्रहण कर संकुचित प्रमाता और संकुचित विश्व बन जाता है।[4] वह जीव (पशु) भी जिसमें चिति संकुचित हो गई है, संकुचित रूप में विश्वमय ही है। पति (शिव) की जो ज्ञान, क्रिया और तीसरी माया शक्ति है वे, ही अपने अंगरूप पदार्थों के विषय में पशुदशा में (जीव दशा में) क्रमशः सत्त्व, रजस्, और तमस् बन जाती है। चिति शक्ति ही जिसका स्वातन्त्र्य स्वरूप है, जो ज्ञान, क्रिया और माया शक्ति रूप है, पशु (जीव) की दशा में संकोच के बढ़ जाने के कारण सत्त्व, रज और तम् के स्वभाव वाले चित्त के रूप में प्रकट होती हैं।[5] अर्थात् सत्त्व, रजस् तथा तमस् का पशु प्रमाता से सम्बन्ध

---

1. "चिति स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः" (प्र० हृ०, सू०-1)
2. "चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसंकोचिनी चित्तम्" (तदेव, सू०-5)
3. "न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी। शक्तिशक्तिमतो र्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते न हिमस्य पृथक् शैत्यं नाग्नेरौष्ण्यं पृथग्भवेत।" (शि० दृ० 3/2, 3,7)
4. "चितिसंकोचात्मा चेतनोऽपि संकुचितविश्वमय।" (प्र० हृ०, सू० 4)
5. (क) "स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या। माया तृतीये ते एव पशोः सत्व रजस्तमः।।" (ई० प्र०, 1.5,3)
   (ख) "स्वातन्त्र्यात्मा चितिशक्तिरेव ज्ञानक्रिया–माया शक्तिरूपा पशुदशायां संकोचप्रकर्षात् सत्त्व–रजस्तमः स्वभावचित्तात्मतया स्फुरति।" (तदेव)

है तथा ज्ञान, क्रिया और माया का पति प्रमाता से। शिव जीव से अभिन्न है, क्योंकि देहधारी रूप ग्रहण कर जीव भाव से युक्त शिव ही है।[1]

''प्रत्यभिज्ञाहृदयम्'' में क्षेमराज लिखते हैं कि चित्स्वरूप के साथ-साथ शक्ति के संकोच से मल से ढका हुआ संसारी बन जाता है।[2] शिव ही बन्ध की स्थिति में मोह में फंस कर जीव बन जाता है और मोक्ष की स्थिति आने पर वही जीव शिव बन जाता है अर्थात् अपने स्वरूप को भूलना जीव और अपने स्वरूप को पहचानना ही शिव है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब चिदात्मा अपने स्वातन्त्र्य से अभेदव्याप्ति को संकुचित करके भेदव्याप्ति का अवलम्बन ग्रहण करते हैं, तब उनकी इच्छादि शक्तियाँ, असंकुचित होने पर भी संकुचित प्रतीत होती हैं तभी यह (आत्मा) मलों से आवृत होकर संसारी हो जाती है। जीव को बन्धन से ग्रस्त कराने वाले मल ही होते हैं। यह मल तीन हैं- आणव मल, कार्म मल, मायीय मल। परमेश्वर के स्वातन्त्र्य से समुद्भूत ये मलत्रय, वस्तुतः एक दूसरे में कार्यकारण भाव से सम्बद्ध हैं।[3] अपने पूर्ण स्वरूप का अज्ञान ही ''मल'' कहा जाता है। इसी अज्ञान के कारण जीव का बन्धन होता है और उनकी सृष्टि, स्थिति एवं संहृति होती है।[4] ''प्रत्यभिज्ञादर्शन'' में इस अज्ञान को ज्ञान का अभाव रूप नहीं माना गया है, अपितु ज्ञान के संकुचित रूप को ही मल, जड़ता अथवा अज्ञान कहा गया है।[5] स्वात्मा के स्वरूप एवं शक्तियों के संकोच में त्रिविध मलों का महत्त्वपूर्ण योगदान माना गया है।

1. **आणव मल :-** परमेश्वर अपनी प्रकाशरूपता को भूलकर कहीं शून्य को, कहीं बुद्धि को, कहीं प्राण को और कहीं शरीर को ही ''अहम्'' अर्थात् अपना आप समझ बैठता है। इन जड़ भावों में ही अपने आपको अर्थात् अपने कर्तृत्व

---

1. "भोक्ता च तत्र देही शिव एव गृहीतपशुभावः" (पार॰ सा॰ का॰-5)
2. "चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचात् मलावृतः संसारी" (प्र॰ हृ॰, सू॰-9)
3. "मायीयस्य कार्ममलं तस्य चाणवं कारणमिति भावः।" (शि॰ सू॰ वि॰, पृ॰-12)
4. (क) "मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराकुरकारणम्" (मा॰ वि॰)
   (ख) "अज्ञानाद्बध्यते लोकस्ततः सृष्टिश्च संहृतिः।।" (शि॰ सू॰ वि॰, पृ॰ 16)
5. "परिच्छिन्नप्रकाशत्वं जडस्य किल लक्षणम्। जडाद्विलक्षणो बोधो यतो न परिमीयते।। (बो॰ प॰, 8)

को ठहराता है। इस प्रकार अपने आपको असीम प्रकाशरूप न समझते हुए उसे सीमित शून्य आदि के रूप में समझना ही "आणवमल" होता है।[1] परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य से अभेदव्याप्ति निमज्जित करके भेदव्याप्ति का आवलम्बन करता है, तब वास्तव में अप्रतिहतरूप इच्छाशक्ति संकुचित होने पर आणव मल बन जाती है,[2] जिससे जीव अपने पूर्ण स्वरूप को भूलकर अपूर्ण (अणु, संकुचित) को ही अपनी आत्मा मान लेता है। कोई-कोई प्रमाता ऐसे भी होते हैं, जो अपनी शुद्ध प्रकाशरूपता को भूलते तो नहीं, परन्तु अपने स्वतन्त्र क्रिया शक्ति-रूप ऐश्वर्य को भूलकर अपने आपको आकाश सदृश निष्क्रिय और ऐश्वर्यहीन शुद्ध और शून्य प्रकाशमात्र ही समझते हैं। इस तरह आणव मल दो प्रकार का हो जाता है। प्रथमावस्था में शिव अपने आपको शून्य आदि जड़ वस्तु समझता हुआ अपने भीतर कर्तृत्व का अनुभव रहता है और दूसरे में कर्तृता होने पर भी चिद्रूपता की अनुभूति न होने से अपूर्णता रहती है। इन दोनों प्रकारों में स्वरूप का ही संकोच होता है।[3]

यह मल अन्य दो मलों से पूर्ण स्वतन्त्र है उन दोनों के नष्ट हो जाने पर भी वह बना रहता है। प्रलयावस्था पहुँचने के पूर्व तक यह सृष्टि की चार अवस्थाओं से गुजरता रहता है। शुद्धाध्वा के पाचों प्रमाताओं का भेद इसी के सम्बन्ध द्वारा होता है।

3. **कार्ममल :-** आणव मल के प्रभाव से आत्मा कर्म करने की ओर अभिमुख होता है तथा शरीरादि मायीय पदार्थों की क्रियाओं में ही अभिमान करता हुआ तथा उन पदार्थो के साथ संयोग होने पर कर्म करने लगता है। इस सीमित शुभाशुभ कर्तृत्व एवं इसके संस्कारों से जकड़ित हुआ शुभाशुभ योनियों में सञ्चरण करता रहता है। इस अवस्था में उत्पन्न अशुद्धता अर्थात् यह शुभाशुभ वासनात्मक ज्ञान ही " कार्ममल" कहलाता है।[4] कार्ममल कर्म करने की प्रवृत्ति है, जो

---

1. "शिवाभेदाख्यात्यात्मकाज्ञानस्वभावोऽपूर्णम्मन्यतात्मकाणवमलः।" (शि० सू० वि०, पृ० 16)
2. 'तथा च अप्रतिहतस्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्तिः संकुचिता सती अपूर्णम्मन्यतारूपम् आणवं मलम्" (प्र० हृ० पृ० 65, 66)
3. "स्वातन्त्र्यहानिबोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।
   द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः।।" (ई० प्र० का०, 3/15)
4. "क्रियाशक्तिः क्रमेण संकोचात् भेदे सर्वज्ञत्वस्य किञ्चिज्ज्ञत्वाप्तेः कर्मेन्द्रियरूप-संकोचग्रहणपूर्वम् अत्यन्तं परिमितताम् प्राप्ता शुभाशुभानुष्ठानमयं कार्मं मलम्।" (प्र० हृ०, पृ० 66, शि० सू० वि० 1/4)

आत्मा में आणव मल के प्रभाव से प्रादुर्भूत होती है। यह कर्मवासना उसे (जीव, अणु) भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेने के लिए बाध्य करती हुई संसृति के चक्र में फंसाए रखती है।

अपने को अपूर्ण एवं दूसरों से सर्वथा पृथक् समझने के कारण वह (जीव) अपने पूर्ण कर्तृत्व को भूलकर संकुचित कर्तृत्व में अभिमान करने लगता है। भेद दशा में परमेश्वर की क्रियाशक्ति ही सर्वकर्तृत्व से अल्पकर्तृत्व को प्राप्त होकर कर्मेन्द्रियों के रूप में अत्यन्त परिमितता को प्राप्त हुई शुभाशुभ अनुष्ठानमय कार्ममल बन जाती है।[1]

सामान्यतया सभी भारतीय दर्शनों में चार्वाक को छोड़कर कर्म को मल रूप अथवा बन्धनस्वरूप माना गया है। कर्म को बन्धनस्वरूप मानने का कारण एक यह है कि इससे प्राणी कर्मनियति के बन्धन में पड़ जाता है, जिसके अनुसार वह जो भी कर्म करेगा उसका फल उसे अवश्य ही भोगना होगा। दूसरा कारण यह है कि कर्म से आत्मा के वास्तविक स्वरूप पर आवरण-सा पड़ जाता है। यह तो पूर्णरुपेण आणव मल पर आश्रित है तथा इसमें क्रिया शक्ति की प्रधानता होती है।

2 **मायीयमल :--** जब प्रमाता अपने वास्तविक विलास की लीला के प्रभाव से संसार, परमेश्वर तथा अन्य प्राणियों को अपने से भिन्न समझता है। प्रमाता के भेदमय दृष्टिकोण का यह संकोच मायीयमल कहलाता है।[2] ज्ञान शक्ति ही क्रम से संकोच के कारण भेद दशा में सर्वज्ञत्व से किञ्चिज्ज्ञत्व को प्राप्त होकर अन्तःकरण-बुद्धीन्द्रियों के रूप में अत्यन्त संकुचित होकर भिन्न वेद्यप्रथा रूप मायीय मल बन जाती है।[3]

---

1. "जन्मभोगदम्। कर्तर्यबोधे कार्मं तु।" (प्र०ह०,पृ० 66, शि०सू०वि०, 1/4)
2. "भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं।" (ई० प्र० का०, 3/16)
3. "ज्ञानशक्तिः क्रमेण संकोचात् भेदे सर्वज्ञत्वस्य किञ्चिज्ज्ञत्वाप्तेः अन्तःकरण-बुद्धीन्द्रियताप्तिपूर्वम् अत्यन्तं संकोचग्रहणेन भिन्नवेद्यप्रथारूपं मायीयं मलम्।" (प्र० ह०, पृ० 66, शि० सू० वि०, 1/4)

वस्तुतः समस्त क्रियाओं के कर्त्ता स्वयं शिव ही होते हैं, परन्तु संकोच की प्रगति के प्रभाव से जीवरूप में प्रकट होकर उसे अपनी सर्वकर्तृता भूल जाती है। फलतः जीव को एकमात्र विशेष शरीर, मन और वाणी आदि के ही द्वारा किए जाने वाले कर्मों के विषय में अपने कर्तृत्व का अभिमान होता है। वस्तुतः उन परिमित कर्मों का कर्त्ता भी स्वयं शिव ही होता है, क्योंकि जीव शिव की इच्छानुसार और शिव के ही द्वारा बनाए विधान के अनुसार उसी की अन्तः प्रेरणा से सभी कर्मों को करने वाला होता है।[1]

ये तीनों ही मल परमेश्वर की स्वेच्छा से माया शक्ति द्वारा अवकल्पित होते हैं।[2] प्रत्येक प्राणी किसी न किसी मल का पात्र बना रहता है। यह मल ही बन्ध की आधार-भित्ति हैं। इस तरह सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञातृतव, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्तियों का संकोच ग्रहण करके कला, विद्या, राग, काल, और नियति आदि रूपों को धारण करना ही शिव का पशुभाव (बन्धन) कहलाता है। इस अवस्था में भी उसी (शिव) के समान जीव पाँच कृत्य करता है।[3] परन्तु उनके परिज्ञान में चित्त अन्तर्मुखीभाव से युक्त हुआ सार्वभौम चैतन्यारूढ़ होने से चिति बन जाता है।[4]

भगवती चितिशक्ति ही संसार को वमन (सृष्टि) करने के कारण और संसाररूपी वाम (विपरीत) आचरण के कारण वामेश्वरी कहलाती है। क्षेमराज कहते हैं कि चिति शक्ति वामेश्वरी ही खेचरी-गोचरी, दिक्चरी, भूचरी रूपों द्वारा अशेष प्रमातृ-अन्तःकरण-बहिष्करण भाव स्वभावों के रूप में परिस्फुटित होती है। यह जीव को परिज्ञान (पूर्णज्ञान) द्वारा पूर्ण बनाते हुए मुक्ति देती है और अज्ञान द्वारा उसे अवच्छिन्न बनाते हुए बन्धन में डालती है। इस प्रकार अपनी शक्तियों द्वारा व्यामोहित

---

1. तस्य या एवमीति विचित्ररूपेच्छा सैव क्रिया इति सम्बन्धः।
तेन महेश्वर एव भगवान् विश्वकर्ता।। (ई० प्र० वि०, 2-2-5)
2. "तन्मलत्रयनिर्माणे प्रभोरिच्छा मायाशक्तिरूच्यते।" (ई० प्र० का०, पृ 65)
3. "तथापि तद्वत् पञ्च कृत्यानि करोति।" (प्र० हृ०, सू०-10)
4. "तत्परिज्ञाने चित्तमेव अन्तर्मुखीभावेन चेतनपदाध्यारोहात् चितिः।" (तदेव, सू० 13)

हो जाना ही संसारदशा या बन्धन है।[1] संसारी दशापन्न करने के लिए इनमें भेदसृष्टि और पतिदशा समन्वित करने के लिए अभेददृष्टि उत्पन्न कर देती है। चिदात्मा परमेश्वर की स्वानपायिनी, अद्वितीय, स्फुरत्तासार, कर्तृतात्मा, ऐश्वर्यशक्ति के स्वरूप को छुपाकर पशु दशा में प्राण-अपान-समान शक्तिदशाओं, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति भूमियाँ देह-प्राण, पुर्यष्टक कलाओं द्वारा विमोहित करना बन्धन कहलाता है। परन्तु वही जब मध्यधाम उल्लासरूपा उदानशक्ति एवं विश्व-व्याप्तिसार व्यान शक्ति के रूप में तुर्यदशा और चिदानन्दघन तुर्यातीत दशा को उन्मीलित करती है, तो देहादि में अवस्थित प्राणी को पतिदशा (जीवन्मुक्ति) भी अनुभव करता है।[2]

आखिर वह कौन सा कारण है जिससे मुक्ति पाने की हमें आवश्यकता प्रतीत होती है तो कहा गया है कि वह कारण है 'बन्ध'। बन्ध का अर्थ है- संसरणशीलता। वसुगुप्त ने ज्ञान को "बन्ध" कहा है, "ज्ञान बन्धः"। यहाँ ज्ञान से अभिप्राय है- अज्ञानत्मक ज्ञान।[3] आखिर अज्ञान भी तो ज्ञान ही है। जो कुछ हम जानते हैं वही ज्ञान है। क्षेमराज इस बात को "बन्ध इत्यनुवर्तते" के द्वारा स्पष्ट कर देते हैं। इस बन्ध रूप ज्ञान की जड़ है मातृका देवी।[4] वस्तुतः विविध प्रकार के ज्ञान "मैं मोटा हूँ, मैं काला हूँ, आदि शब्दों में समाहित रहते हैं। ये शब्द अक्षरों से बनते हैं। यह मातृका देवी 'अ' से लेकर 'क्ष' तक स्वरों की अधिष्ठात्री है, तथा इन वर्णें को 'कवर्ग, चवर्ग' आदि वर्गों में विभाजित किया जाता है।

---

1. (क) "चितिशक्तिरेव भगवती----वामेश्वर्याख्या सती, खेचरी-गोचरी-दिक्चरी-भूचरीरूपैः अशेषैः प्रमातृ-अन्तःकरण बहिष्करण-भावस्वभावैः परिस्फुरन्ती, पशुभूमिकायां----पतिहृदयविकासिना स्फुरति उक्तं भट्टदामोदरेण विमुक्तकेषु----(प्र॰ हृ॰ टी॰, सू॰ 12 पृ॰ 73, 74)
   (ख) "पूर्णावच्छिन्नमात्रान्तर्बहिष्करणभावगाः। वामेशाद्याः परिज्ञानाज्ञानात्स्युर्मुक्तिबन्धदाः।।
2. "अपि च चिदात्मनः परमेश्वरस्य स्वाअनपायिनी एकैव स्फुरत्तासारकर्तृतात्मा ऐश्वर्यशक्तिः। सा यदा स्वरूपं गोपयित्वा पाशवे पदे प्राणापान-समानशक्तिदशाभिः----पतिदशात्मा जीवन्मुक्तिभर्वति।"
   (प्र॰ हृ॰, पृ॰ 74, 75)
3. यावत् अनात्मनि शरीरादौ आत्मताभिमानात्मकम् अज्ञानमूलं ज्ञानमपि बन्ध एव" (शि॰ सू॰ वि॰, पृ॰-13)
4. "ज्ञानाधिष्ठान मातृका" (शि॰ सू॰ 1/4)

इन वर्णसमूहों की अपनी-अपनी अधिष्ठात्री देवियाँ हैं। ये देवियाँ चिदानन्द स्वरूप में निमग्न, शुद्ध विकल्प शक्ति को उल्लासित करती हैं :-

अधिष्ठात्री देवियाँ	वर्ग
1. महालक्ष्मी	अ वर्ग
2. ब्राह्मी	क वर्ग
3. माहेश्वरी	च वर्ग
4. कौमारी	ट वर्ग
5. वैष्णवी	त वर्ग
6. वाराही	प वर्ग
7. ऐन्द्री	य वर्ग
8. चामुण्डा	श वर्ग
9. श्रामुण्डा	क्ष वर्ग

इस मातृका चक्र को ही संकुचित ज्ञान का आधार माना गया है। इस मातृका चक्र का जब तक जीव को ज्ञान नहीं होता, तब तक यही मातृका जीव के बन्धन का कारण होती है और जब जीव को इसका ज्ञान हो जाता है तब यही मुक्ति का कारण सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त 'तिमिरोद्घाट तन्त्र' में लिखा है कि तीन पीठेश्वरियाँ 'घोरा, अघोरा, और महाघोरा शक्तियाँ ब्रह्मपाश से जीव को बार-बार मोहित करती हैं। यही बन्धन का कारण है और इन्ही के ज्ञान से जीव को मुक्ति मिलती है।[1]

इस प्रकार प्रत्यभिज्ञादर्शन में अपूर्ण ज्ञान अथवा वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञता ही बन्धन है एवं पूर्ण ज्ञान अथवा आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान ही मोक्ष माना गया है।[2] काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार मोक्ष पूर्णता की स्थिति

1 "ब्रह्मरन्ध्रचितिमध्यस्था ब्रह्मपाशावलम्बिक पीठेश्वर्या महाघोराः मोहयन्ति मुहुर्मुहुः।।" (ति०त०)

2. (क) "सम्यग्ज्ञानस्वभावा हि विद्या साक्षाद्विमोचिका।।" — तं० आ०, भा०-9, 15-9
(ख) "मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि तत्।।" (प्र० हृ०, पृ० 192), तदेव, भा०-1, 1-156

है। मोक्ष में आत्मा पूर्ण आनन्दस्वरूप स्वयं शिव हो जाता है। शिव का पूर्ण
ज्ञान होने पर चित्त ही अन्तर्मुखीभाव से चेतनपद पर पहुँच जाने से चिति हो
जाता है।[1] इस स्थिति में भेद ज्ञान अथवा द्वैतज्ञान अभेद ज्ञान अथवा अद्वैत-ज्ञान
में परिणत हो जाता है आत्मा यह जानने लगता है कि सारा विश्व उसका ही
विभव है।[2] अर्थात् पशुभाव अपने असीमित सामर्थ्य को भूल जाना ही है और
अपने माहेश्वर्य की अनुभूति करना पतिभाव (शिवत्व) है। अतः जीव जब प्राणादि
के धारण किये रहने पर भी अपनी शक्तियों के द्वारा व्यामोहित नहीं होता, तो
आम्नायों की दृष्टि में वह "शरीरी परमेश्वर" कहलाता है। जब चिति अपने स्वभावसिद्ध
बल को प्राप्त कर लेती है, तब वह विश्व को आत्मसात् कर लेती है।[3] अर्थात्
स्वस्वरूप से अभेदरूप में निर्भासित करती है।

अतः सभी कुछ शिवमय होने से बन्ध और मोक्ष अपने आप में कुछ नहीं
है। केवल द्वैत की प्रतीति ही बन्ध और अद्वैत की अनुभूति ही मोक्ष माना
गया है।[4] वास्तव में अपने स्वातन्त्र्य के विलास से परमसत्ता स्वयं मुक्त, बद्ध,
भोक्ता, ज्ञाता एवं अज्ञान-ज्ञान प्राप्ति आदि विविध रूपों का अभिनय करती है।[5]
इस दर्शनानुसार मोक्ष पूर्णता की स्थिति है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पारमार्थिक दृष्टि
से जीव शिव ही होता है। और इस पारमार्थिक स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा ही मोक्ष
है। काश्मीर शैव दार्शनिक मुक्ति की अवस्था में आत्मा को भिन्न समझी जाने
वाली वस्तुओं का निषेध नहीं करते, प्रत्युत उन्हें आत्मरूप ही मानते हैं। जगत्

"तत्परिज्ञाने चित्तमेव अन्तर्मुखीभावेन चेतनपदाध्यारोहात् चितिः।।" (प्र० हृ०, सू० 13)

1. "स्वशक्तिप्रचयेऽस्य विश्वम्।" (शि० सू०, श्लो० 3/30)
2. "बललाभे विश्वमात्मसात्करोति।।" (प्र० हृ०, सू० 15)
3. "बन्धमोक्षौ न भिद्येते सर्वत्रैव शिवत्वतः (शि० दृ० 3/68) एवं "सर्वस्य शिवत्वे बन्धमोक्षाभावात् शिवोऽहमिति
4. सर्वस्यैव किमिति ज्ञानं न भवति। ----यथा सैदेषा विमोहिता" एवं "अज्ञानलक्षणा च संसारो बन्ध
   उच्यते' इति स्थितावज्ञानरूपो बन्धमोक्षो।" (शि० दृ० वृ०, पृ० 125, 126)
   "स्वयं बध्नाति देवेशः स्वयं चैव विमुच्चति। स्वयं भोक्ता स्वयं ज्ञाता स्वयं चैवोपलक्षयेत्
5. (क) (तं० आ० आह० 13/83)
   "न सा जीवकला काचित्संतानद्वयवर्तिनी।
   (ख) व्याप्त्री शिवकला यस्यामधिष्ठात्री न विद्यते।।" (स्प० का० वि०, पृ० 144)

आदि वस्तुओं को अपने से भिन्न समझना ही बन्धन है तथा उन्हें अपने से अभिन्न समझना मोक्ष है। मोक्ष शक्तियों के पूर्ण प्रकाशन की स्थिति है। बद्धावस्था में आत्मा की शक्तियाँ सीमित हो जाती हैं। मुक्तावस्था शिवावस्था है, पूर्णाहं की स्थिति है। शिवावस्था में आत्मा स्वयं शिव हो जाता है।[1] जैसे सूर्य मेघों से आच्छादित होने पर भी अपने द्वारा पदार्थों के अवभासित करने के स्वभाव को नहीं खोता, उसी प्रकार शिव को भी सर्वकालिक होना चाहिए। इस शंका के समाधान करते हुये क्षेमराज कहते हैं कि मायिक दशा में आवृत रहने पर भी चिदग्नि अंशतः प्रमेय रूपी इन्धन को दग्ध कर देती है।[2] अर्थात् जीवदशा ग्रहण करने पर भी शिव सीमित रूप में ज्ञान करते ही हैं।

1. "शिवतुल्यो जायते" (शि० सू० श्लो० 3/26)
2. "चिति बहिनरवरोहपदे छन्नोऽपि मात्रया मेयेन्धनं प्लुषयति।" (प्र० हृ० सू० 14)

पञ्चम अध्याय

चितिशक्ति एवं उपाय

चितिशक्ति एवं उपाय

आचार्य क्षेमराज के अनुसार चितिशक्ति अद्वितीय ऐश्वर्य से सम्पन्न है। वह कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथा कर्तुं में सर्वसमर्थ है। चिति शक्ति अपने स्वातन्त्र्य से अपने स्वरूप एवं शक्तियों को संकुचित कर चित्त रूप में (जीव रूप) में आभासित होती है तथा सांसारिक दशा का उपभोग करने के पश्चात् पुनः चिति रूप में अभिव्यक्त हो जाती है। यह चिति अपने ही स्वातन्त्र्य भाव से स्वेच्छा से ही विश्व की रचना करती है[1] अर्थात् स्वतन्त्र चिति शक्ति ही सृष्टि, स्थिति एवं संहारगत भोग-मोक्ष रूप सिद्धियों की कर्त्री है।

'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' के अनुसार सर्वोच्च आनन्द जगदानन्द है, जिसमें सारा विश्व चिद्रूप या शिव रूप प्रतीत होता है। यह चिति शक्ति के शक्तिपात या अनुग्रह से ही प्राप्त होता है। "चिति शक्ति" जब अपने स्वातन्त्र्य भाव को भूल कर संकुचित हो जाती है, तो वह बद्ध चित्त (जीव) कहलाती है।[2] यही जीव अनुग्रह के द्वारा मोक्ष प्राप्त करते हैं। कश्मीर शैव दर्शन में मोक्ष अथवा शिवरूपता प्राप्ति के लिये बहुत से उपाय बतलाये गये हैं, जिनमें से चार प्रमुख हैं– अनुपाय, शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय, आणवोपाय।

1. **अनुपाय :–** काश्मीर शैव दर्शन में सर्वोत्कृष्ट साधकों के लिए अनुपाय का निर्देश है। इससे तात्पर्य है-सहजोपाय। जिसको हम पारमार्थिक अन्तर्दृष्टि भी कह सकते हैं। यह सर्वथा अनुग्रह पर आश्रित है। बिना किसी जप-तप आदि कठोर अभ्यास के सहज ही स्वरूप ज्ञान कराने का सबसे सरल उपाय यही है।[3] इसको अनुपाय इसलिए नहीं कहते कि इसमें किसी भी उपाय की आवश्यकता नहीं, अपितु इसलिए कि उपायों का इसमें अत्यल्प महत्त्व है।[4]

---

1. स्वेच्छया स्वभितौ विश्वमुन्मीलयति।" (प्र० हृ०, श्लोक-2, पृ० 48)
2. "चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचात् मलावृतः संसारी।" (तदेव, श्लोक-9, पृ० 65)
3. "न ध्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधिपूर्वकम्।
एवमेव शिवाभासः तं नुमो भक्तिशालिनम्।। (शि० स्तो०, 1/1)
4. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पंक्ति-18, पृ०-56

'अनु' उपसर्ग होने के कारण अनुपाय का अर्थ 'ईषत्' अर्थात् अत्यन्त अल्प हो जाता है। इस अर्थ के अनुसार अनुपाय का भाव है साधक के द्वारा अत्यन्त अल्प अथवा नाम मात्र का प्रयत्न। सिद्ध गुरु के कथनमात्र से निर्मलचित्त साधक को ऐसा प्रकाश मिल सकता है जिससे क्षण भर में उसे आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। जैसे एक दीपक की ज्योति दूसरे से स्पर्शमात्र से संक्रान्त हो जाती है, इसी प्रकार किसी सिद्ध पुरुष आदि के कथन, स्पर्शन, दर्शन, चारू-भक्षण अथवा अनुगह करने की इच्छामात्र से एवं स्वयं शिव के शक्तिपात करने से शिवता की पाप्ति हो जाती है, जिससे वह समस्त विश्व को अपना ही रूप समझता है।[1] उपरागों से विनिर्मुक्त रहता है, इसलिए सम्भवतः इसे आनन्दोपाय कहा जाता है।

2. **शाम्भवोपाय :**—यह प्रौढ़ एवं उन्नत साधकों के लिए है, जो शिवतत्त्व का निदिध्यासन करने से शिव-चेतना-युक्त हो जाते हैं। इसमें पूर्णज्ञान अर्थात् चरमसत्ता का ज्ञान इच्छाशक्ति के आभास के द्वारा प्राप्त होता है। शाम्भवोपाय में किसी भी प्रकार की गहरी समाधि, श्वास-निरोध अथवा अनुसन्धि एवं उसके लोप की आवश्यकता नहीं पड़ती। चलती हुई वायु से रहित स्थान पर जलते हुए दीपक की प्रभा की भाँति स्थिर अवस्था में स्वतः अपने में ही ठहरे रहने का अभ्यास शाम्भवोपाय कहा जाता है।[2] विकल्प ही शिवस्वरूप के प्रत्यभिज्ञान में बाधक होता है। साधक पहले पंचकृत्य पर मनन करता है, फिर विकल्पक्षय की साधना करता है और इस विचार पर मनन करने का अभ्यास करता है कि विश्व केवल चित् का प्रतिफलन है। अन्तः में वह इन साधनाओं का भी त्याग कर देता है और शुद्ध, अकृत्रिम अहं-विमर्श को प्राप्त करता है। इसे इच्छोपाय

1. (क) "दर्शनात्स्पर्शनाद्वापि वितताद्भवसागरात्।
तारयिष्यन्ति योगीन्द्राः कुलाचारप्रतिष्ठिताः।। (शि० सू० वि०, पृ० 192)

(ख) "स्वयं प्रकाशं शिवमाविशेत् क्षणात्।" (तं० सा०, पृ० 19)

2. "निराधारं मनः कृत्वा विकल्पान्न विकल्पयेत्।
तदात्मपरमात्मत्वे भैरवो मृगलोचने।।" (वि० भै०, 108 एवं भ० गी० 6/19)

अथवा अभेदोपाय भी कहते हैं।[1] अतः शाम्भवोपाय की पराकाष्ठा ही अनुपाय कहलाता है।[2]

3. **शाक्तोपाय** :- इस योग में ज्ञान एवं भावना की प्रधानता होती है। मानसिक साधना इसका मुख्य अंग है, इसलिए इसे 'ज्ञानोपाय' कहा जाता है। इसे भावनोपाय, भेदाभेदोपाय भी कहते हैं। इस उपाय में विशेष कर मंत्रशक्ति का उपयोग होता है, जिससे साधक को प्रातिभ ज्ञान हो जाता है। उसका द्वैतभाव कम होने लगता है तथा शरीरादि के बन्धन में कारण अहन्ता-ममतादि अशुद्ध विकल्पों को त्यागकर- "मैं परमशिव ही हूँ", "सब कुछ मेरी ही अभिव्यक्ति है"- ऐसे शुद्ध एवं परिपूर्ण शिवभाव की भावना करना शाक्तोपाय कहलाता है।[3] इस उपाय से, बिना विशेष प्रयास के कुण्डलिनी जाग्रत् होकर मूलाधार से ऊपर की ओर उठती है और आत्मसाक्षात्कार सम्पन्न कर देती है तथा साधक का चित्त उसके अपने आप ही के विषय में शुद्ध विकल्पों के ज्ञान का अभ्यास करता रहता है।

4. **आणवोपाय** :- शाम्भवोपाय में तो चित्त का कोई आलम्बन नहीं होता, जिस पर उसे एकाग्र या स्थिर किया जा सके। इसलिए चित्त-क्रिया शान्त हो जाती है। शाक्तोपाय में चित्त का निर्मलीकरण किया जाता है। इसमें चित्त काम तो करता है, परन्तु उसका आलम्बन आत्मपरमेश्वर ही बना रहता है। परन्तु आणवोपाय में अणु (जीव, संसारी) को आत्मसाक्षात्कार के लिए कुछ मन्त्रों का उच्चारण करना पड़ता है। यह कल्पनारूप क्रिया एवं ध्यानादि मानस क्रिया से साध्य है। इसीलिए इसे क्रियोपाय एवं भेदोपाय भी कहते हैं। क्योंकि किसी मंत्र का जप, पूजा इत्यादि, इस साधना का प्रधान अंग हैं तथा इसी प्रकार प्राणायाम, इष्टदेव की पूजा इत्यादि साधनों का प्रयोग होता है तथा मध्यधाम या सुषुम्ना के उन्मीलन से आत्मसाक्षात्कार होता है।

(तं॰ आ॰, आह॰। 1-230)

1. "अभेदोपायमत्रोक्तं शाम्भवम्" (तं॰ आ॰ वि॰, भा॰।, आह॰ 2)
2. "स एव परां काष्ठां प्राप्ताश्चानुपाय इत्युच्यते।" (तं॰ आ॰ वि॰, पृ॰ 19 एवं तं॰ सा॰, पृ 21)
3. "सर्वमहंभावभावनात्मकशुद्धविकल्पनावमर्शरूपः शाक्तः।" (विं॰ भे॰ वि॰,

राजानक क्षेमराज ने 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में कहा है कि उपर्युक्त उपाय तो बहुत प्रसिद्ध हैं और सभी शैव आगम शास्त्रों में उपलब्ध होते हैं, परन्तु इन उपायों के अतिरिक्त अन्य सरल उपाय भी हैं, जिनसे शिव (परमसत्ता, पराशक्ति) और जीव के एकत्व का ज्ञान होता है। क्षेमराज ने 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में "**विकल्पक्षय, शक्तिसंकोच–विकास, बाहच्छेद, आद्यन्तकोटि निभालन** को स्वरूप लाभ या मोक्ष प्राप्ति में उपयुक्त बताया है[1] साथ ही शिवप्राप्ति का सहजोपाय भी माना है। ताकि बहुत से उपायों में से अपनी सुविधा अनुसार चुनकर कोई उनका अनुसरण करके आत्मपरमेश्वर की प्रत्यभिज्ञान कर सके।

1. **विकल्पक्षय :**–हमारा चित्त नाना प्रकार की वृत्तियों का आखेट-स्थल है, जो कि एक दूसरे के बाद समुद्र पर लहर के समान उठती रहती हैं। हम इन्हीं वृत्तियों में उलझे रहते हैं। उनके पीछे शान्त चेतना का जो स्तर है, उसका हमको पता भी नहीं होता। जब साधक अपने चित्त को हृदय में स्थापित अर्थात् एकाग्र करके, बतलाये हुए उपाय से, अपनी वास्तविक दशा के बाधक विकल्प को बिना अन्य किसी प्रकार के चिन्तन को रोक कर अविकल्प के आश्रय के द्वारा जो देह इत्यादि से दूषित नहीं हैं ऐसी अपनी पारमार्थिक चेतना को प्रमाता (वास्तविक ज्ञाता) समझने का अभ्यास कर लेता है अर्थात् चित् प्रमातृत्व के चिन्तन में रत (योगी) शीघ्र ही विकासासन्न तुर्य तथा तुर्यातीत से युक्त समावेशभूमि प्राप्त करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वकल्पक्षय का अभ्यास क्षोभ से मुक्त होने और उस अधःस्थ चेतना की प्राप्ति के लिए बतलाया गया है जिसकी ऊपरी तल पर विकल्प विहार करते रहते हैं। अपने स्वरूप का ज्ञान 'विकल्पक्षय' है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा गया है कि साधक विकल्प के त्याग से और एकाग्रता के द्वारा क्रमशः ईश्वरता पद को प्राप्त कर लेता है।[2]

2. **शक्ति–संकोच :**– शक्ति-संकोच अर्थात् इन्द्रियों द्वारा बहिर्गत शक्ति को खींचकर अन्तर की ओर उन्मुख करना है। इसका भाव है कि "इन्द्रियों के

---

1. "विकल्पक्षयशक्तिसंकोचविकासबाहच्छेदाद्यान्तन्कोटिनिभालनादय इह उपायः।" (प्र० हृ०, सू० 18)
2. "विकल्पहानेनैकाग्रयात् क्रमेणेश्वरतापदम्।" (ई० प्र० का०, 4/11)

द्वारा (विषयों की ओर) जाती हुई शक्ति का अंकुचन क्रम से (समेट कर) प्रत्यागात्मा की ओर उन्मुख करना 'शक्ति-संकोच' कहलाता है। जैसा की अथर्ववेदीय कठवल्ली उपनिषद् की चतुर्थवल्ली के प्रथम मंत्र में कहा गया है कि स्वयम्भू ब्रह्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया है। अतः मनुष्य बाहर की ओर देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। कोई धीर विवेकी पुरुष ही चक्षु आदि इन्द्रियों को बाह्य विषय से लौटाकर अमृत का उपभोग करता हुआ अन्तरात्मा को देखता है।[1] अथवा बहिर्गत शक्ति को, भय के अवसर पर जैसे कछुआ अपने अंगों को समेटकर भीतर कर लेता है, वैसे ही चारों ओर प्रसृत इन्द्रियों को उनके विषय से निवृत करना ही 'शक्ति-संकोच' है।

3. **शक्ति-विकास :-** बिना किसी क्रम के समस्त इन्द्रियों को फैलाकर निमेष और उन्मेष (अर्थात् आँख बिना बन्द या खोले हुए एक टक) से रहित जिसकी दृष्टि बाहर की ओर तो रहती है किन्तु लक्ष्य अन्तरात्मा की ओर;[2] इस भैरवी मुद्रा में अनुप्रवेश की युक्ति से अन्तर निगूढ़ शक्ति का बाहर की ओर प्रसार होता है।[3] कहने का अभिप्राय यह है कि "इन्द्रियाँ पदार्थों की ओर प्रवृत होते हुए भी चित्त में ही केन्द्रित होने से शक्ति-विकास कहलाता है।

शक्ति के संकोच और विकास का दूसरा उपाय है। ऊर्ध्वकुण्डलिनी में प्रसर और विश्रान्ति का अभ्यास। यह शक्ति मूलाधार के नीचे मेरूदण्ड के सबसे निचले भाग में त्रिकोणाकार अग्नि चक्र में विद्यमान होती है इसे कुल कुण्डल करते हैं। यह षष्ठवक्त्ररूप अधःकुण्डलिनीपद है। यहाँ सूक्ष्म-प्राण-शक्ति को वश में करके उसके कुलकुण्डल के मूल-मध्य तथा अग्र-भाग का स्पर्श करना ही विकास है।

---

1. "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमश्नन्।।" (कठ० उप०, मं०-4)
2. "अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः।" (प्र० हृ० टि०, सू० 18, पृ० 86)
3. "भैरवीयमुद्रानुप्रवेशयुक्त्या बहिः प्रसरणम्।" (प्र० हृ० टि०, सू० 18, पृ० 86)

4. **बाहच्छेद :–** बाह अर्थात् वाम-दक्षिण नाडी-गत प्राण तथा अपान का विच्छेद। प्राण और अपान का जिनमें से अपान वामगत (सुषुम्ना की बाईं ओर) है और प्राण दक्षिणगत (सुषुम्ना की दाहिनी ओर) है। छेद अर्थात् हृदय में पहले रोककर स्वर रहित ककार, हकार इत्यादि वर्णों के उच्चारण से विच्छेद। जैसा कि 'ज्ञानगर्भ' में कहा है कि इड़ा और पिंगला इन दोनों पार्श्व नाड़ियों में प्रसृत वायु का विच्छेद करने वाले चित्तजयी योगी के हृदयकमल के अन्तराल में घोर अज्ञान को नष्ट करने वाली विद्या का अंकुर उदित होता है, जो पशु को परमेश्वर बना देने में समर्थ है।[1]

5. **आद्यन्तकोटि निभालन :–** इसका अर्थ है कि प्राण का आदि अर्थात् हृदय से उठना और अन्त अर्थात् वहां से बाहर द्वादशान्त अंगुल के अन्तर पर समाप्त होना तथा इन दोनों के अवधान का अभ्यास आद्यन्तकोटि निभालन कहलाता है। जैसा कि विज्ञान भैरव में कहा है– जिसकी इन्द्रियाँ हृदयाकाश में लीन हो गई हैं तथा जिसका चित्त हृदयकमल के भीतर प्रविष्ट हो गया है, जो एकाग्रचित हो गया है, वह परम सौभाग्य को प्राप्त होता है।[2]

'आदि' पद से उन्मेष दशा का अभ्यास समझना चाहिए।[3] उन्मेष उसे समझना चाहिए जिसके ज्ञान होने पर मनुष्य स्वतः उसको देख ले अर्थात् स्वयं उसका अनुभव प्राप्त कर ले।[4] इसी प्रकार रमणीय विषय की चर्वणा का आस्वादन इत्यादि भी 'आदि' पद में संगृहीत है। जैसा की 'विज्ञानभैरव' में कहा है कि "भोजन के प्रत्येक ग्रास और पानी की प्रत्येक घूँट से शरीर में सन्तोष, पुष्टि और भूख-प्यास की निवृत्ति ये तीन कार्य अवश्य होते हैं। इनसे शरीर में उल्लास, रस और

---

1. "अनच्ककककृतायतिप्रसृतपार्श्वनाडीद्वयच्छिदो विधृतचेतसी हृदयपङ्कजस्योदरे। उदेति तव दारितान्धतमसः स विद्याङ्कुरो य एष परमेशतां जनयितुं पशोरप्यलम्" (प्र० हृ०, पृ० 88)

2. "हृद्याकाशे निलीनाक्षः पद्मसंपुटमध्यगः।
अनन्यचेताः सुभगे। परं सौभाग्यमाप्नुयात्।।" (वि० भै०, श्लो० 49)

3. "आदिपदात् उन्मेषदशानिषेवणम्।" (प्र० हृ० हि०, पृ० 134)

4. "उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षेत्।" (प्र० हृ०, टि० पृ० 134)

आनन्द का आविर्भाव होता है। उस आनन्द के प्रस्फुरण से (योगी को) तुष्टावस्था एवं परमानन्द की अनुभूति होनी चाहिए। ऐसा करने से वह महानन्द से परिपूर्ण हो जाएगा।"[1]

"जब गीतादिविषयों के अनुपम आनन्द से कोई योगी (साधक) एकात्म हो जाता है, तब ऐसी स्थिति में एकाग्र चित्त योगी स्थिर हो जाता है अर्थात् आनन्द से तादात्म्य का अनुभव करता है। एक हलवाहा और विद्वान् दोनों समान रूप से इसमें आनन्द का अनुभव करते हैं। किन्तु जब एक योगी के चित्त की स्थिरता में तन्मयता के कारण अद्भुत शक्ति का संचार होता है, तब वह परब्रह्म स्वरूप हो जाता है।[2] महेश्वरानन्द ने परिमल व्याख्या में महाप्रकाश की अभिव्यक्ति के साधन के रूप में इस धारणा का उल्लेख किया है।"[3]

एक साधारण व्यक्ति को जिस किसी वस्तु से मन की प्रसन्नता प्राप्त होती है अर्थात् चाहे वह शुभ हो या अशुभ, जिस किसी वस्तु या विषय में मन लग जाता है, तो उस समय अन्य सारी बातों को वह भूल जाता है। इसी स्थिति को केन्द्र-बिन्दु बना कर योगी जब भावना (ध्यान) के अभ्यास से मन की एकाग्रता को बढ़ाता है, तो उसकी परम आनन्दमय स्वात्मस्वरूप में प्रतिष्ठा हो जाती है।[4]

---

1. "जग्धिपानकृतोल्लासरसानन्दविजृम्भणात्।
भावयेत् भरितावस्थां महानन्दमयो भवेत्।।" (वि॰ भै॰, श्लो॰ 71, पृ॰ 80)

2. "गीतादिविषयास्वादासमसौख्यैकतात्मनः।
योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढेस्तदात्मता।।" (वि॰ भै॰, श्लो॰ 72)

3. "वीणावादनतत्त्वज्ञः स्वरशास्त्रविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति।।" (तदेव॰ पृ॰-63, पंक्ति-6)

4. "यत्र यत्र मनस्तुष्टिर्मनस्तत्रैव धारयेत्।
तत्र तत्र परानन्दस्वरूपं संप्रवर्तते।।" (वि॰ भै॰, श्लो॰ 73)

उपसंहार

उपसंहार

भारतवर्ष दर्शनविद्या के लीला-विलास का क्रीडास्थल सदा से बना आया है। यहाँ अनादिकाल से ही अनेकों आध्यात्मिक दर्शनविद्याओं का विकास होता रहा है। विभिन्न दर्शनों में से काश्मीर शैवदर्शन एक ऐसा दर्शन है, जो वैदिक धर्म को स्वीकार करते हुए भी अपने शुद्ध आगमिक स्वभाव को स्पष्टतया अपनाये रखता है। काश्मीर अद्वैत शैव दर्शन आगम दर्शन और अद्वैत वेदान्त दर्शन निगम दर्शन है। इसे त्रिक दर्शन भी कहते हैं। शैवदर्शन के इस अद्वैतवाद पर उपलब्ध साहित्य के प्रायः सभी रचयिता कश्मीर के निवासी रहे हैं। कश्मीर का मूल धर्म-अद्वैतशैव, जोकि इसकी सुन्दरता की भाँति ही मन को मोहने वाला भी है।

काश्मीर शैवदर्शन की कृतियों में राजानक क्षेमराजकृत 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' वह कृति है, जिसकी गणना काश्मीर में ही नहीं, अपितु दक्षिण में भी, केवल दार्शिनक ग्रन्थ के रूप में नहीं, बल्कि धार्मिक ग्रन्थ के रूप में भी होती है। 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' में क्षेमराज ने समस्त 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' का सार प्रस्तुत किया है। इस दर्शन के माध्यम से क्षेमराज यह उपदेश देते हैं कि जीव वस्तुतः शिव है, जोकि अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गया है और अपने शरीर को ही अपना वास्तविक स्वरूप मान बैठा है। 'प्रत्यभिज्ञा' का अर्थ ही अपने स्वरूप की 'पहचान' है। जीव का वास्तविक स्वरूप शिव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसी का विस्तृत वर्णन इस कृति में किया गया है। क्षेमराज 'अभिनवगुप्त' के शिष्य थे तथा इनका समय दशवीं शती है।

इस ग्रन्थ में ही क्षेमराज कहते हैं कि इस जगत् में कुछ ऐसे भक्त हैं, जो सुकुमारबुद्धि के हैं, जिन्होंने कठिन तर्कशास्त्र में परिश्रम नहीं किया है, किन्तु वे परमेश्वर के साथ उस समावेश की अभिलाषा करते हैं जो कि शक्तिपात से विकसित होता है।[1] इस शक्तिपात को विकसित करने के लिए जीव को

1. "इह ये सुकुमारमतयोऽकृततीक्ष्णतर्कशास्त्रपरिश्रमाः शक्तिपातोन्मिषितपारमेश्वरसमावेशाभिलाषिणः कतिचित् भक्तिभाजः तेषामीश्वरप्रत्यभिज्ञोपदेशतत्त्वं मनाक् उन्मील्यते।" (प्र० हृ०, पृ०-6)

पहले अपने चैतन्य स्वरूप का विकसित करना होता है, जोकि मायादिवश संकुचित होकर चित्त बन गया है। प्रत्यभिज्ञाहृदय में क्षेमराज ने भगवती चितिशक्ति के स्वतन्त्ररूप का विवेचन किया है। यह भगवती चितिशक्ति जो कि चित्, चैतन्य, परावाक्, परमेश्वरी, परमसत्ता इत्यादि नामों से जानी जाती है। स्वेच्छा से जगत् की रचना करने वाली है।

राजानक क्षेमराज अनुसार भगवती चिति स्वात्मदेवता है। यही सर्वत्र कारण है। यह स्वतन्त्र चितिशक्ति अपनी इच्छा से विश्व का निर्माण करती है। वह इसके लिए किसी की अपेक्षा नहीं रखती और न ही किसी के अधीन है।[1] शिव से लेकर सकल पर्यन्त सप्त प्रमाताओं और शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों के वर्गों से ओतप्रोत यह विश्व पराशक्ति के ही विश्व-सिसृक्षा के समय ग्राह्य-ग्राहक के अनुरूप संकुचित हो जाने से नाना प्रकार का हो जाता है।[2]

शिव की यह शक्ति शिव से भिन्न नहीं है। काश्मीरशैवदर्शन में शिव को प्रकाश तथा शक्ति को विमर्श का सामरस्यरूप माना गया है। परमशिव की प्रकाशत्मकता उसकी ज्ञानस्वरूपता है और विमर्शात्मकता उसकी क्रियास्वरूपता है।[3] परमशिव का वास्तविक स्वरूप शुद्ध, असीम और परिपूर्ण ज्ञान और उसी प्रकार की क्रिया का परिपूर्ण सामरस्य ही है। यह परमशिव जिसे विश्वोत्तीर्ण की संज्ञा भी दी गई है, चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया नामक शक्तियों से युक्त होकर सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय तथा अनुग्रह नामक पञ्चकृत्य करता रहता है। इस प्रकार वह शिव एक होते हुए भी, शिव से पृथिवी पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों, सप्त प्रमाताओं, चित् आदि पाँच शक्तियों से युक्त है तथा मुक्ति प्रदान करता है अन्यथा संसार का हेतु बनता है अर्थात् आवागमन के चक्र में पड़ कर मल से ढका हुआ

---

1. "स्वेच्छया स्वभितौ विश्वमुन्मीलयति" (प्र० हृ०, सू०-2)

2. "तन्नाना अनुरूपग्राह्यग्राहकभेदात्" (प्र० हृ०, सू०-3)

3. स एव हि अहंभावात्मा विमर्शो देवस्य क्रीडादिमयस्य शुद्धे पारमार्थिक्यौ ज्ञानक्रिये। प्रकाशरूपता ज्ञानं तत्रैव स्वातन्त्र्यात्मा विमर्शः क्रिया। (का० शे० द०, पृ०-61)

संसारी बन जाता है। संसारी दशा से युक्त यह जीव उसी शिव के समान सृष्टि आदि पाँच कृत्य करता रहता है। "अज्ञान" अर्थात् मोह के कारण वह जीव अपनी ही शक्तियों से मोहित हो जाता है अर्थात् नाना प्रकार की लौकिक एवं शास्त्रीय शंकाओं में जकड़ जाता है। इस प्रकार भगवती चिति ही चेतन पद अर्थात् असंकुचित प्रमाता की अवस्था से उतर कर चित्त (जीव) बन जाती है। इस अवस्था में उसे अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होता और इस तरह अपने स्वरूप को न पहचानना ही बन्धन है तथा अपने परमार्थ स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान ही मोक्ष है। अपनी आत्मा के स्वरूप एवं शक्तियों के संकोच में त्रिविध मलों (आणवमल, मायीयमल, कार्ममल) का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। किन्तु जब पशु (जीव) की आत्मा से इन त्रिविध मलों एवं माया का आवरण हट जाता है, तो वह पतिदशा को प्राप्त होता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यह मोक्ष या शिवस्वरूप की प्राप्ति ऐसे ही नहीं हो जाती इसके लिए विभिन्न प्रकार के उपाय बतलाए गए हैं। 'अनुपाय, शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय तथा आणवोपाय'। इन चार मुख्य उपायों के अतिरिक्त क्षेमराज अनुसार 'विकल्प-क्षय, शक्ति-संकोच, शक्ति-विकास, वाहच्छेद तथा आद्यन्तकोटि निभालन इन पाँच उपायों से भी मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। चित्त के अन्तर्मुखी भाव से चेतनपद पर पहुँच जाने से वह 'चिति' हो जाता है।

ग्रन्थ सूची

ग्रन्थ सूची

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक	संस्करण
1	अनुत्तरप्रकाशपञ्चाशिका	अभिनवगुप्त	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	प्रथम सं० 1918
2	अभिनवभारती	अभिनवगुप्त	सं०डॉ०नगेन्द्र, हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय	प्रथम सं० 1960
3	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी	अभिनवगुप्त	काश्मीर संस्कृत गन्थावली श्रीनगर	प्रथम सं० 1918, 21
4	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका	उत्पलदेव	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1921
5	ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्ति विमर्शिनी	अभिनवगुप्त	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1938, 41, 43
6	कठोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस गोरखपुर	1949
7	काश्मीर शैव दर्शन	डा० बल्जिन्नाथ पण्डित शास्त्री	श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू	1973
8	काश्मीर शैव दर्शन और कामायनी	डा० भँवरलाल जोशी	चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ आफिस वाराणसी	1957
9	क्रमस्तोत्र	अभिनवगुप्त	काश्मीर संस्कृत सीरिज़	1961
10	तन्त्रसार	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1918
11	तन्त्रलोक विवेक	जयरथ	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1920
12	दुर्गासप्तशती	सं० हनुमान प्रसाद	गीता प्रेस, गोरखपुर	1969
13	नेत्रतन्त्र	ब्रजवल्लभ द्विवेदी	परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली	1942
14	परमार्थसारविवृति	योगराज	कश्मीर संस्कृत सीरिज़, श्रीनगर	1937

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक / सम्पादक	प्रकाशक	संस्करण
15	पराप्रावेशिका	क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1937
16	परात्रिंशिकाविवरण	अभिनवगुप्त	रिसर्च डिपार्टमैन्ट ऑफ जे० एण्ड० के० स्टेट	1936
17	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्	राजानक क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1969
18	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्	सं माध्वाचार्य	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी	द्वि 1978
19	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्	सं जयदेव सिंह	मोतीलाल बनारसी-दास, दिल्ली	1983
20	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्	सं विशालप्रसाद त्रिपाठी	नेशनल पब्लि० हाऊस दिल्ली	1969
21	प्रत्यभिज्ञाहृदयम् और वेदान्त	डा० जगीर सिंह	अमर आर्ट प्रेस मोती बाजार, जम्मू	2000
22	प्रत्यभिज्ञाहृदयम् माया	विशाल प्रसाद त्रिपाठी	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1979
23	पूर्णता प्रत्यभिज्ञा	रामेश्वर झा	पं० श्री कामेश्वर झा पटना	संवत् 1998
24	बोधपञ्चदशिका	अभिनवगुप्त	गीता प्रेस गोरखपुर	1949
25	ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य	शांकराचार्य	मोतीलाल बनारसी-दास, पटना	1949
26	भगवद्गीता	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1995
27	भारतीय दर्शन	डा० राधाकृष्ण	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली	1975
28	भारतीय दर्शन	डा० कुंवरलाल व्यासशिष्य	इतिहास विद्याप्रकाशन दिल्ली	1980-1981
29	भारतीय दर्शन	राजकिशोर सिंह	विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा	1972

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक	संस्करण
30	भारतीय दर्शन का इतिहास	डा॰ नरेन्द्रदेव सिंह शास्त्री और डा॰ हरिदत्त शास्त्री	साहित्य भण्डार सुभाष बाजार, मेरठ	1973
31	भारतीय दर्शन शास्त्र	डा॰ रामकृष्ण आचार्य	विनोद पुस्तक, मन्दिर, आगरा	1967
32	मालिनी विजयोत्तर तन्त्रम्	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत सीरिज, श्रीनगर	1922
33	मुण्डक उपनिषद्	निगम	गीताप्रेस, गोरखपुर	सं॰ 2018
34	माहेश्वरानन्द महार्थ-मञ्जरी	महेश्वरानन्द	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1918
35	वेदान्तसार	सदानन्द	चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी	1921
36	विज्ञानभैरव	आगम	रिसर्च डिपार्टमैन्ट जे॰एण्ड॰के॰ स्टेट	1981
37	शारदातिलक	डा॰ चमनलाल गौतम	संस्कृत संस्थान ख्वाजा कुतुबमिनार, बरेली	1977
38	शिवसूत्रविमर्शिनी	क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1911
39	शिवदृष्टि	सोमानन्द	आर्यभूषण प्रेस, पूनाशहर	1934
40	शिवदृष्टि	राधेश्याम चतुर्वेदी	वाराणसेय संस्कृत संस्थान	1986
41	शिवदृष्टि	उत्पलदेव	चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ आफिस वाराणसी	1964
42	शिवसूत्र	क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1911
43	शिवस्तोत्रावली	उत्पलदेव	चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ आफिस, वाराणसी	1964
44	शैवदर्शन बिन्दुः	डां॰ कान्तिचन्द्र पाण्डेय	वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय	संवत् 2021

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक / सम्पादक	प्रकाशक	संस्करण
45	स्पन्दकारिका	वसुगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1921
46	स्पन्दनिर्णय	क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1925
47	स्पन्दसन्दोह:	राजानक क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1917
48	स्वच्छन्दतन्त्र	क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1947
49	स्तवचिन्तामणि	भट्टनारायण	ग्रन्थावली श्रीनगर	1925
50	सांख्य कारिका	ईश्वरकृष्ण	मोतीलाल बनारसी -दास, दिल्ली	1959
51	संस्कृत साहित्य का इतिहास	श्री हंसराज अग्रवाल	चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी	1972
52	षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह	क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1918

ENGLISH BOOKS

1	Indian Philosophy	Dr. S.R. Krishanan	Rajkamal Prakashan Delhi	1965
2	Religion & Philosophy of the Veda and the Upnishada	A.B. Keeth	MLBD	1969
3	Cultural heritage of Kashmir	Suresh Chander Banerji	Sanskrit Pustak Bhandar Calcutta	1961
4	History of Kashmir Shaivisim	Dr. B N. Pandit	Uptal Publication Matiyar, Kashmir	1989
5	Siva Sutras	Ed. Jaideva Singh	Motilal Banarsi Dass Delhi	1979

Bani Ram